प्रतिनिधि रचनायें

शम्भुनाथ सिंह

समकालीन प्रकाशन
वा रा ण सी

स्वत्वाधिकारी प्रभा प्रकाशन, वाराणसी
★ प्रथम संस्करण
१९६७
★ प्रकाशक
समकालीन प्रकाशन
सी १४/१६०, बी २
सत्याग्रह मार्ग, वाराणसी

● मूल्य
तीन रुपये

● मुद्रक
भारतीय भाषा मुद्रणालय

काशी विद्यापीठ के
उपकुलपति
आचार्य राजाराम शास्त्री
एवं
केन्द्रीय अधिवक्ता-संघ वाराणसी
के अध्यक्ष
बन्धुवर सागर सिंह
को
जिनके कारण ही
इन रचनाओं का
संकलन हुआ।

स्वत्वाधिकारी प्रभा प्रकाशन, वाराणसी

★ प्रथम संस्करण
१९६७

★ प्रकाशक
समकालीन प्रकाशन
सी १४/१६०, बी २
सत्याग्रह मार्ग, वाराणसी

● मूल्य
तीन रुपये
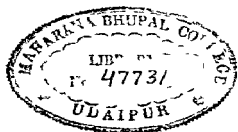
● मुद्रक
भारतीय भाषा मुद्रणालय

काशी विद्यापीठ के
उपकुलपति
आचार्य राजाराम शास्त्री
एवं
केन्द्रीय अधिवक्ता-संघ वाराणसी
के अध्यक्ष
बन्धुवर सागर सिंह
को
जिनके कारण ही
इन रचनाओं का
संकलन हुआ ।

प्राक्कथन

'प्रतिनिधि रचनायें' मेरी कुछ ऐसी गद्य-पद्यात्मक रचनाओं का संकलन है जिनको मेरी रचनात्मक यात्रा के मार्ग में मील के पत्थर की संज्ञा दी जा सकती है। साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से नहीं, ऐतिहासिक अभिलेख की दृष्टि से मैं उन्हें अपनी प्रतिनिधि रचनायें मानता हूँ। इसीलिए आज जब मैं अपनी जीवन-यात्रा के मध्य बिन्दु पर पहुँच कर पूर्व और उत्तर की ओर देखता हूँ तो पूर्व में स्मृति-वर्षों की लम्बी दूरी तक रचना, रचना और रचना ही दिखायी पड़ती है। इस भीड़ में ये रचनायें कुछ अधिक ऊँचाई तक सर उठाये दिखाई पड़ीं। उत्तर दिशा अभी मेरे चरण चिह्नों और पगध्वनियों की प्रतीक्षा कर रही है। उत्तर की ओर मुड़कर अनजान पथ पर बढ़ते हुए पूर्व दिशा की इन बिखरी कृतियों की ओर ममताभरी दृष्टि से देखना न जाने क्यों अच्छा लगता है। इसे मोह भी कह सकते हैं आसक्ति भी। पर यदि ये रचनायें दूसरों के भी काम आ सकीं तो मैं अपने इस मोह को धन्य मानूँगा।

वाराणसी
२०-१२-६७

— शम्भुनाथ सिंह

रचना-क्रम

प्राक्कथन

'प्रतिनिधि रचनायें' मेरी कुछ ऐसी गद्य-पद्यात्मक रचनाओं का संकलन है जिनको मेरी रचनात्मक यात्रा के मार्ग में मील के पत्थर की संज्ञा दी जा सकती है। साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से नहीं, ऐतिहासिक अभिलेख की दृष्टि से मैं उन्हें अपनी प्रतिनिधि रचनायें मानता हूँ। इसीलिए आज जब मैं अपनी जीवन-यात्रा के मध्य बिन्दु पर पहुँच कर पूर्व और उत्तर की ओर देखता हूँ तो पूर्व में स्मृति-चरणों की लम्बी दूरी तक रचना, रचना और रचना ही दिखायी पड़ती है। इस भीड़ में ये रचनायें कुछ अधिक ऊँचाई तक सर उठाये दिखाई पड़ीं। उत्तर दिशा अभी मेरे चरण चिह्नों और पगध्वनियों की प्रतीक्षा कर रही है। उत्तर की ओर मुड़कर अनजान पथ पर बढ़ते हुए पूर्व दिशा की इन बिखरी कृतियों की ओर ममताभरी दृष्टि से देखना न जाने क्यों अच्छा लगता है। इसे मोह भी कह सकते हैं आसक्ति भी। पर यदि ये रचनायें दूसरों के भी काम आ सकीं तो मैं अपने इस मोह को धन्य मानूँगा।

वा रा ण सी

२०-१२-६७

— शम्भुनाथ सिंह

रचना-क्रम

प्रतिनिधि रचनायें

★ कवितायें

★ नाटक

★ कहानी

★ निबन्ध

कोई हो भी तो

मेरे मन, कोई हो भी तो!
मेरे यौवन के प्याला में
मेरी जीवन-मधुशाला में,
जागेगा कौन अरे भोले, चिर यौवन कोई हो भी तो!

मैं दीपक बन जलता प्रतिपल
निज ज्वाला से भर भर अंचल
उर शीतल कौन करे मेरा चिर चन्दन कोई हो भी तो!

मेरे अन्तर के राग ललक
आकुल हो उठते छलक छलक
मैं युग युग किसमें लय होऊँ, चिर जीवन कोई हो भी तो!

है छलक रहा मेरा चुम्बन
अंगड़ाई लेता उर स्पन्दन
मैं किस बन्धन में बँध जाऊँ, चिर बन्धन कोई हो भी तो!

बहते जाते गल कर प्रतिक्षण
इन नयनों के पागल हिम कण
मैं राधा बन किस पर मिट लूँ, मनमोहन कोई हो भी तो!
मेरे मन, कोई हो भी तो!

'रूपरश्मि' १९३९

किसी के रूप के बादल,

किसी के रूप के बादल,
मुझे सोने नहीं देते
मुझे रोने नहीं देते
कभी क्षण एक भी अपना
मुझे होने नहीं देते।
रहे घिर प्राण-आँगन में
किसी के रूप के बादल।
कभी कुछ गा न पाता मैं
कभी मुस्का न पाता मैं
किसी को खोल उर अपना
कभी दिखला न पाता मैं।
रहे छा आज तन-मन में
किसी के रूप के बादल।
मुझे चलने न देते ये
मुझे जलने न देते ये
स्वयं को स्वप्न से भी तो
कभी छलने न देते ये।
उठे भर आज जीवन में
किसी के रूप के बादल।
न तप कर मैं निखर पाता
न मिट कर मैं बिखर पाता।
बँधा किन बंधनों में मैं
न जी पाता न मर पाता।
गरजते आज यौवन में
किसी के रूप के बादल।

'छायालोक' १९४२

तुमने न जाना

मैं तुम्हारी छाँह में चलता रहा, तुमने न जाना !
सच कभी तुमने न जाना !

रूप की किरणें तुम्हारी
ले सदा मैं मुस्कराया !
याद के बादल तुम्हारे
ले नयन अपना सजाया !

मैं तुम्हारे स्वप्न में पलता रहा तुमने न जाना !

सच कभी तुमने न जाना !
साँस की छाया तुम्हारी
छू सदा जीवन बिताया !
प्राण का सौरभ तुम्हारा
छू सजल यौवन बनाया !

मैं तुम्हारा स्नेह ले जलता रहा, तुमने न जाना !

सच कभी तुमने न जाना !
ओ नयन तारा, तुम्हारी
ज्योति से ज्योतित हुआ मैं !
हँस उठी तो हँस उठा मैं
रो पड़ी तो रो पड़ा मैं !

मैं तुम्हारे रूप में ढलता रहा तुमने न जाना !
सच कभी तुमने न जाना !

पाषाण मत बनो तुम

जिसने मधुर स्वरों से
छू-छू तुम्हें जगाया
निज प्रणय रागिनी से
बेसुध तुम्हें बनाया

कलिके उसी भ्रमर से
अनजान मत बनो तुम !
पाषाण मत बनो तुम !

सोई तिमिर भवन में
जिसकी प्रणय कहानी,
कुछ राख के कणों में
जिसकी बची निशानी,

प्रिय अब उसी शलभ की
पहिचान मत बनो तुम !
पाषाण मत बनो तुम !

जिसने मिटा स्वयं को
तुमको अमर बनाया;
आराधना सदा की
वरदान पर न पाया,

उसकी प्रणय चिता पर
मधुगान मत बनो तुम !

१९४३

'छायालोक'

जीवन-गति

चला जा रहा हूँ ।
न इस राह का आदि मैं जानता हूँ,
न इस राह का अन्त मैं मानता हूँ,
दिशा पन्थ की एक पहिचानता हूँ

नहीं जानता छल रहा पन्थ को मैं
स्वयं पन्थ से या छला जा रहा हूँ ।
चला जा रहा हूँ ।

नहीं है मुझे ध्यान जीवन मरण का
नहीं ज्ञान है तम कण और तन का
मुझे एक ही ज्ञान है बस जलन का ?

नहीं ज्ञात, मरु जल रहा आज मुझमें
स्वयं या कि मरु में जला जा रहा हूँ
चला जा रहा हूँ

नहीं ज्ञात तट पर कि मझधार हूँ मैं,
निराधार हूँ या कि साधार हूँ मैं
यही लग रहा बस, निराकार हूँ मैं

नहीं जानता, ढल रहा शून्य मुझमें
स्वयं शून्य में या ढला जा रहा हूँ ।
चला जा रहा हूँ ।

'छायालोक'

१९४३

पाषाण मत बनो तुम

जिसने मधुर स्वरों से
छू-छू तुम्हें जगाया
निज प्रणय रागिनी से
बेसुध तुम्हें बनाया

कलिके उसी भ्रमर से
अनजान मत बनो तुम !
पाषाण मत बनो तुम !

सोई तिमिर भवन में
जिसकी प्रणय कहानी,
कुछ राख के कणों में
जिसकी बची निशानी,

प्रिय अब उसी शलभ की
पहिचान मत बनो तुम !
पाषाण मत बनो तुम !

जिसने मिटा स्वयं को
तुमको अमर बनाया;
आराधना सदा की
वरदान पर न पाया,

उसकी प्रणय चिता पर
मधुगान मत बनो तुम !

'छायालोक'

मुखरित कर मधुर गान

मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई ?

बीते यह गहन रात
अब न बहे व्यथा-वात
झूलें जीवन वन में
लहरायें मधुर प्रात ?

रह न जाय बीती निशि का वचन कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

किरण उठें नींद त्याग
कुंज-कुंज उठें जाग
तरु-तरु तृण-तृण में भर
जाये यह मधुर राग।

रह न जाय प्यास-विकल बेसुध तन कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

सौरभ से बहे पवन
उड़े विहग से यौवन
कलिका-उर में स्पन्दन
भर दे अलि का गुंजन !

रह न जाय गति-लय से रहित चरण कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

मुसकायें नयन-कमल
खुल जायें उर के दल
लहरायें जीवन, हट-
जायें तम के बादल।

गायक भू पर उतार स्वर्ण-किरण कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

'उदयाचल'

१६४३

समय की शिला पर

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये, किसी ने मिटाये !
किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी
इसी में गये बीत दिन जिन्दगी के
गयी घुल जवानी गयी मिट निशानी !
विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने
धरा ने उठाये गगन ने गिराये !
शलभ ने शिखा को सदा ध्येय माना
किसी को लगा यह मरण का बहाना,
शलभ जल न पाया, शलभ मिट न पाया,
तिमिर में उसे पर मिला क्या ठिकाना !
प्रणय-पन्थ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाये, विरह ने बुझाये !
जलधि ने गगन-चित्र खींचे नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में,
अचल किन्तु चल चित्र ये हो न पाये
कि सहसा बुझी रूप की ज्योति क्षन में !
जलद-पत्र पर इन्द्रधनु-रंग कितने
किरण ने सजाये, पवन ने उड़ाये !
भटकती हुई राह में वंचना की
रुकी श्रान्त हो जब लहर चेतना की,
तिमिर-आवरण ज्योति का वर बना तब
कि टूटी तभी शृंखला साधना की !
नयन-प्राण में रूप के स्वप्न कितने
निशा ने जगाये उषा ने सुलाये !
सुरभि की अनिल-पंख पर मौन भाषा—
उड़ी, वन्दना की जगी सुप्त आशा,
तुहिन बिन्दु बन कर बिखर पर गये स्वर
नहीं बुझ सकी अर्चना की पिपासा !
किसी के चरण पर वरण-फूल कितने
लता ने चढ़ाये लहर ने बहाये !

-१९४४

अपराजेय

तुम्हे लहर पुकारती !

न पास स्वर्ण की तरी
न पास पर्ण की तरी
न आस–पास दीखती
कही समुद्र की परी,
अपार सिन्धु सामने
मगर न हार मानना

असीम शक्ति बाहु मे
अनन्त स्वप्न के व्रती !
तुम्हे लहर पुकारती !

न पास ज्योति की किरण
न दूर मृत्यु के चरण
मिटा विभाग काल का
मुँदे दिकाल के नयन !
तिमिर अभेद्य सामने
मगर न हार मानना,

सहस्र कण समुद्र लो
रहा उतार आरती !
तुम्हे लहर पुकारती !

तडप रहे विनाश – घन,
न दूर हैं विनाश – क्षण,
सवेग डोलती धरा
सशब्द काँपता गगन,

प्रलय – प्रवाह सामने
मगर न हार मानना

अजेय शक्ति साँस में
महान कल्प के कृति !
तुम्हें लहर पुकारती !

अशब्द हो चला गगन
न साँस ले रहा पवन
विलीन हो चली धरा
ठहर न पा रहे चरण !
विनष्ट विश्व सामने
मगर न हार मानना

नवीन सृष्टि स्वप्न ले
तुम्हें लहर निहारती
तुम्हें लहर पुकारती !

दो बड़े नयन

भर गया सजल घन से नेम का सूना आँगन,
सून नयना मे उमड पडे दो भरे नयन।

काली, काली बरखा की रात घुमड आई,
सन्देश वहन करती सी आई पुरवाई।
भूले प्राणा मे बरस गया सुधि का सावन,
खोये नयनो म झलक पडे दो बडे नयन।

बिजली बन चमके चपल चरण दो रागारुण,
रिमिझिम बूँदा में बरस पडी पायल रुनझुन।
मृत मन को जिला गया सुधि का विषमय दशन,
रीन नयनो मे ढुलक पडे मधु-भरे नयन।

बह चले पवन धारा म घन श्यामल श्यामल,
लहराये मन मे फिर काले काले कुन्तल।
सुधि की साँसा से भीग उठा जलता जीवन,
प्यासे नयनों मे बरस पडे जल भरे नयन।

दिशि-दिशि से उमड पडीं तुम की बेसुध लहरें,
भर गये व्यथा के चित्र विवश मन म गहरे।
घुल गया हृदय के कण कण मे सुधि का अजन,
बदी नयना मे बद हुए दो खुले नयन।

दिवालोक

१९४५

स्वप्न और सत्य

स्वप्न की रात है सत्य का प्रात क्षण !

हासमय गान है,
मुग्ध मुसकान है,
भीगते जा रहे
किन्तु मन प्राण हैं,

प्राण, मैं स्नेह - सर का कुमुद हूं, मुझे
हासमय नींद है, अश्रुमय जागरण !

रंगमय कल्पना,
ज्योतिमय अर्चना,
छल रही प्राण को
पर जलन — साधना,

प्रिय, मिलन — रात का दीप मैं हूं, मुझे
है सुधामय तिमिर, है गरलमय किरण !

चांदनी पास है,
तृप्त हर सांस है,
बढ़ गई किन्तु
अनजान में प्यास है,

प्राण के सिन्धु का ज्वार मैं हूं, मुझे
शूलमय है धरा, फूलमय है गगन !

आंकता रंग भर,
मैं तुम्हें प्राण पर,
अश्रु में किन्तु ये
चित्र जाते बिखर,

दूर तुमसे हुआ यक्ष मैं हूं, मुझे
शापमय याद, वरदान मय विस्मरण !
स्वप्न की रात है सत्य का प्रात क्षण !

१९४६ 'दिवालोक'

जन देवता

कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता।
कब तक तुम मौन रहोगे ओ गण-देवता।

हो गया प्रभात, रात घुल गयी,
ज्योति हसी दिशा-दिशा धुल गयी,
तम से अवरुद्ध राह खुल गयी,

फिर भी इस स्वप्न-धार मे तन्द्रालस लिए
कब तक इस भाँति बहोगे ओ जन देवता।

रात गयी पर न खुली अर्गला
मुक्ति मिली पर न कटी शृंखला,
वन्दिनी अभी विमुक्त-कुन्तला

अपने ही घर मे पर यह नवीन दासता
कब तक चुपचाप सहोगे ओ जन देवता।

गगन मिला पर न पख खुल रहे,
किरण मिली पर न कमल खुल रहे
पथ मिला पर न चरण हिल रहे

दीन सजल नयना से निज असीम वेदना,
कब तक तुम मौन कहोगे ओ जन-देवता।

कब तक यह अनृत यह प्रवचना,
कब तक यह मोह, मरण-साधना,
कब तक यह करुण अश्रु-अर्चना

क्रान्ति शान्ति, ममता आनन्द हेतु क्या कहो।
प्रलयङ्कर रुद्र न हाग आ जन-देवता।
कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता।

हिमालोक

बन्द कमरों का सफर

देखता हूँ कहाँ क्या है, कहीं कुछ भी तो नहीं।
चार दीवारें घिरी हैं जो पारदर्शी हैं,
एक छत है जो गहरे नीले समन्दर सी है;
बन्द अँधियारी गुफाओं से अनगिनत कमरे,
यह है वीरान इमारत जो मेरे घर सी है।

अजनबी मैं इन्ही कमरों में सफर करता हूं,
देखता हूं, कहाँ क्या है, कहीं कुछ भी तो नहीं!

एक मकड़ी जो यहाँ जाल बुना करती है
कभी रुक कर कोई आवाज सुना करती है
घर के हर कोने में दरवाजे खिड़कियों पर बैठ
मुझको बाहर कहीं जाने से मना करती है।

एक भौरे की गूँज सी कोई आवाज भी है
और क्या इसके सिवा है कहीं कुछ भी तो नहीं

किन्तु यह शोर, ये नारे कहाँ से आते हैं?
दस्तकों के ये इशारे कहाँ से आते हैं?
घर के खामोश बगीचे में ये आहट कैसी?
ख्वाब फूलों की महक के जहां से आते हैं?

तोड़ इन रेशमी जालों को झाँकता हूँ जब
देखता हूं कि हवा है कहीं कुछ भी तो नहीं।

कब से सूना पड़ा महल है बरकरार अभी,
ज्यों के त्यों हैं वे सभी साज औ सिंगार अभी,
इसी महल में जनम कैद मिली है मुझको,
बन्द कमरों के सफर के हैं दिन हजार अभी!

तोड़ शीशे की ये दीवारें कहाँ जाउंगा?
मुझको बाहर का पता है कहीं कुछ भी तो नहीं?

१९६१

दिगन्वेषण

वे दिशाएं भी हमारी हों
जिधर से हम नहीं गुजरे कभी
नहीं बांधा जहां की
उजली किरन ने मुकुट
वहां की भी हर कली
हर पखडी, हर गंध अपनी हो
सगी हो।
वे दिशाएं भी हमारी हों,
जहां की अनसुनी आवाजें
हवाओं पर छोड़ कर पदचिह्न
अनदिखी ही चली जाती हैं,
जहां के अनमोल सपन
जिन्दगी के सत्य का
सायक बनाते हैं।
उन दिशाओं की सभी सुनसान गलियां
अरौंदी राह, अछूती हवा
अपनी हो
सगी हो।
वे दिशाएं भी हमारी हों
काल का वह अश्व अन्धा, जहां
नीले गगन के नीचे
बंधा है पांव से जो
नहीं धरती खूंदता है,
जहां दिन रात घड़ियां, पल-विपल
आ कर लहर से
लौट जाते हैं,
जहां के चांद-सूरज
नहीं उगते नहीं छिपते
वहां की भी
अंधेरी चांदनी,
उजली छांह। काली धूप
अपनी हो
सगी हो।

'खण्डित सेतु'

१९५६

रजनीगन्धा

दूर निशा के कुंजो में छिपकर
रजनीगन्धा न पुकारो मुझको।

मादकता यों न भरो,
गन्ध-अन्ध यों न करो,
बरबस तुम तन-मन की
चेतनता यों न हरो!
यों न सुरभि की ज्वाला सुलगाकर
लपटों के बीच उतारो मुझको!

स्वप्न-विहग मैं पल भर
कल्पना – तरी लेकर,
किरणों से खेल रहा
नभ-सागर बीच उतर!
दूर किसी तम-गह्वर में छिपकर
सुधियों के तीर न मारो मुझको!

मौन सुरभि के क्रन्दन
फैलाती तुम वन-वन!
मेरे क्रन्दन केवल
सुनता है नील गगन
मैं भी गलकर ज़ल-धारा बनता
प्रस्तर-प्रतिमा न विचारो मुझको

१९४४ 'दिवालोक'

जन-धारा

जय जय जय जन-धारा।
जय जन-जीवन धारा।।

आदि काल में जड़ ने जब कल्पना-पंख फैलाये,
सपनों के नीहार-जाल सूने नभ में घिर आये।
वह तम का अधिकार कि जिसमें जीवन खोया-खोया,
धरती के तममय उर में अति क्षुद्र बीज ज्यों सोया।
द्वन्द्वों का वह खेल कि जैसे इन्द्रजाल की माया,
जड़ घन के पर्दों पर चेतन इन्द्र-धनुष लहराया।
ओढ़े किरणों को दुकूल चेतना परी मुसकायी,
जाग उठा जड़ लेकर परिवर्तन की मधु अंगड़ाई।
सृष्टि-स्वप्नगर्भा घनमाला ले विद्युत का कम्पन,
करने लगी निरन्तर धरती पर जीवन का वर्षण
पुरुष प्रजापति ने सर्जन के महामन्त्र के द्वारा,
जिसे बहाया, तोड़ प्रकृति के अन्ध-गर्भ की कारा।
जय जीवन की धारा।

जड़-चेतन का अमर द्वन्द्व वह, वह अन्तर का मन्थन।
नर्तन, आकर्षण, संघर्षण बने रूप-परिवर्तन।
निखरा नव गुण-गन्ध लिये नव-नव रूपों का कंचन,
आत्म-ज्योति से हुआ प्रकाशित तमस-भरा अन्तर्मन!
जीवन की संज्ञा जड़-चेतन, तम प्रकाश का गुम्फन,
खिलो रूप की पृष्ठ भूमि में छवि अरूप की शोभन।
महाशून्य की छाया में नव-सृष्टि चन्द्रिका छायी,
कहीं ज्योति-कलि खिली अन्ध उर कहीं पड़ी परछाईं।
अमर चेतना की किरणों ने जिसको चूम जगाया,
एक द्विपद बन कर सहस्र पद कर्म भूमि में आया।
संकल्पों की शक्ति लिये, तर्कों का लिये सहारा
बही अमृत की निर्झरणी, जिसका मन कभी न हारा।
जय जन-जीवन धारा।

प्रथम कल्प के अरुणध्वज-शृंगों से जो गति फूटी,
उस सरिता की धारा शत कल्पों में कभी न टूटी।
महाकाल के जटाजूट में खोयी यह जन-गंगा,
खोयी कभी युगों के गिरि-गह्वर में चपल तरंगा।
मौन मरण ने बार-बार जीवन की गति को घेरा,
प्राण-तरंगित ज्योति-शिखा को डंसने लगा अंधेरा।
नव विकास के व्रती, प्रगति की गंगा के अभिमानी,
जन-जीवन के अमर साधकों ने पर हार न मानी।
खुला पुनः अन्तः सलिला का उत्स गिरि-शिखर तल से
ज्योतिर्मय स्वर जल-तरंग के उठे धरा-अंचल से।
जिसे भगीरथ ने विवेक के धरती बीच उतारा,
स्वप्नों के दीपों ने जिसका गतिमय रूप सवारा।
जय जन-गंगा धारा।

यह विकास का चरम बिन्दु, यह भौतिकता की माया
मानव ने निज कर्म-कुशलता से सुरत्व-पद पाया।
वह नव-नव आनन्द-महोत्सव, सत-चित की अवहेला।
वह विलास की अन्तिम सीमा, चिर-यौवन का मेला।
जीवन-धारा की अजस्र गति बंधी अगति-बन्धन में,
सतत् विश्व दर्शन की प्रतिमा लगी आत्म-पूजन में।
गतिमय जीवन की धारा पर अधिक नहीं रुक पायी,
निम्नमुखी हो देव-सृष्टि की धरती बीच समायी।
हुआ प्रलय-विस्फोट, क्रान्ति ज्वालामुखियों का गर्जन,
महानाश की स्मृति-सा जीवित कौन अकेला वह जन ?
वह मनु, सृष्टि-बीज, एकाकी, जीवन का ध्रुवतारा,
जिससे सृष्टि-चक्र फिर गतिमय हुआ प्रवर्तित प्यारा।
जय गति मय जन-धारा।

मनु की प्रजा बनी शतधा बिखरी दिशि-दिशि में भू पर
वन-गिरि-गह्वर, समतल में, हिम मण्डित ध्रुव के ऊपर।
यह मानवता की सहस्त्रधारा अनन्त अविनाशी
बनने चली विश्व-संस्कृति का जल-निधि जय विश्वासी।

दिशा में जन बढ़े, बनीं गिरि-सागर की सीमाएँ
धरती बढ़ी, एक जग में पर सबके स्वर लहराये ।
धर्म जाति, रंग-वर्गों की बनीं नयी दीवारें
पर विराट जन चरण न पथ की बाधाओं से हारे ।
मिली एक ही नील गगन से सबको स्वप्निल छाया ।
हुई एक ही नील गगन से सबको शीतल माया ।
जब-जब अन्यायों ने जनता को पथ में ललकारा
रावण, नीरो वेगु सभी का टूटा भाग्य-सितारा
जय अजेय जन धारा ।

इतिहासों के द्वार खुले, बस गया ज्ञान जन-जन में,
स्वागत किया प्रकृति ने मानव का निज रंग भवन में ।
खिला ज्ञान का कमल, एक पर एक खुलीं पंखुड़ियाँ,
लिये सत्य-उपहार हुईं साकार स्वप्न की परियाँ ।
उड़ी कल्पना दूर क्षितिज में सतरंगे पर खोल,
बीनों के स्वर गीत काव्य की चारु लहर पर डोले ।
हुई साधना-भूमि प्रकाशित मानस की किरणों से,
सौंग उठा धरती का अन्तर सौरभ सुमन-कणों से ।
भरा इन्द्रधनुषी चित्रों से जन-गण मन का आँगन
बँधा स्वरों में मन्द्र-तार बन हृदय-प्राण का कम्पन ।
ले जिसमें रस रंग कला ने अपना रूप निखारा
जिसके कूलों के अंचल में मिटा क्लान्ति-श्रम सारा ।
जय जन-संस्कृति धारा ।

पर वह गति की हार पराजय जन के विश्वासों की
वह कलंकमय कथा लाख के उज्ज्वल इतिहासों की ।
जन-धारा की शक्ति व्यक्ति ने बाँधी अपने कर में,
बदल गयी वह वेगवती धारा अशक्त निर्झर में ।
कर्म रहस्यमय तर्क जाल में फँसी चेतना जन की,
शास्त्र धर्म बन गया साधना शोषण उत्पीड़न की ।
वर्णाश्रम की दीपशिखा में जले शलभ जीवन के,
उठे ज्वार शासक वर्गों के निर्मम पाषाण के ।

वह दुख-भरी प्रवृत्ति न जिस में कहीं मुक्ति की छाया,
मन-चित्रों के इन्द्रजाल-सी जिस की मोहक माया।
जिसे बुद्ध ने किया प्रवर्तित धर्मचक्र वह न्यारा,
शूली पर चढ़ कर ईसा ने जिस का नाम पुकारा
जय करुणा की धारा।

वही काल-पथ पर फिर वह धारा गति की अभ्यासी
देश-युगों की सीमाओं को तोड़ अमरता-प्यासी।
वह अबाध अभियान चेतना की स्वर्णिम धारा का।
वह नव-जीवन, वह मानस-बल दुखी सर्वहारा का।
जड़ प्रतिमा बन किन्तु हुए पूजित चिन्मय सन्यासी,
तमस-घनों में जन मंगल किरणें खोयीं अविनाशी।
फिर पापों के बहे प्रभंजन चला चक्र शोषण का,
व्यक्ति-वर्ग के संघर्षों में लुटा भाग्य जन-गन का।
बंधी अर्थ के भुज-बंधन में मुक्त कला कल्याणी,
बन्द हुई महलों में संस्कृति जन-जन की पहचानी।
रुका न अवरोधों में फिर भी जिसका स्वप्न दुलारा
जिसने अन्धकार में भी किरणों का पंख पसारा
जय जन-जीवन धारा।

वे तृष्णा की प्रबल आंधियां, तमस-घनों का गर्जन,
जिन की प्रलयंकर लीला से सिहर उठा जन-जीवन।
देशों का इतिहास बन गई अत्याचारों की जय,
लिखी गयी कब कथा किन्तु जन-जीवन की ज्योतिर्मय।
पीत स्वर्ण की छाया में छिप गयी रक्त की लाली,
आदर्शों के नील गगन में घिरी निशाएँ काली।
वह भीषण उन्माद कि धरती काँपी जिसके भय से,
मिटे-बने शत राज-राष्ट्र शत झंझावात प्रलय से।
राज-अश्व तन गया चक्रवर्ती कानन-खंडहर में,
मुरझाये प्राणों के शतदल सूखे जीवन-सर में।

क्रूर बर्बरों ने विषमय धार जिसके उर में मारा,
काल-सर्प-सी जो फिर-फिर जी उठी और फुफकारा !

जय अनन्त जन-धारा !

अर्ध निशा में पर धरती पुत्रों के सपने टूटे,
नये ज्ञान, विज्ञान, कलाओं के नव अंकुर फूटे।
नव-नव आविष्कार और बहु कर्मों का कोलाहल,
प्रकृति पराजित हुई, अश्व बन गये धुएँ के बादल।
होने लगा लौह-चक्रों से महासिन्धु का मन्थन,
प्रकट हुए नव-नव रत्नों से नव देश, नव-नव जन।
सामन्ती दुर्गों में पुतली घर हो उठे निनादित,
नयी सभ्यता से धरती का आँगन हुआ प्रकाशित।
पिंजर-बद्ध बन गया बेबस राजसिंह अभिमानी,
पूँजी लिखने लगी नये शोषण की नयी कहानी।
जिन महलों में अस्थि-रक्त के लगे ईंट औ गारा
धधक उठे वे, दबा नींव में धधक उठा अंगारा।

जय जाग्रत जन-धारा !

राजनीति की मृत्यु-मशालों से जल उठी दिशायें,
महासमर-शोषण उत्पीडन बन छायीं विपदाएँ।
साम्राज्यों की ध्वजा हिली फिर जन के उच्छ्वासों से,
विजय स्तम्भ ढह गये प्रजा के प्रबल अट्टहासों से।
लगी टूटने युग-युग के बन्दीगृह की प्राचीरें,
बढ़े क्षितिज के विवर फोड़ विप्लव-घन धीरे-धीरे।
दिशा दिशा में गूँजे गर्जन रव जन-अधिकारों के,
लगे टूटने एक-एक कर गढ़ अत्याचारों के,
कहीं बाढ़ में रही डूबती आकुल विश्व विषमता,
कहीं निकल आयी नव धरती ले नव-नव सुख-समता।
अमर मार्क्स-लेनिन-गांधी ने जिसका पथ सुधारा,
क्रान्ति-महानद बनी तोड़ जो जर्जर कूल-किनारा—

जय असीम जन धारा !

युग-युग की यह रात पार कर प्रात-परी मुसकायी,
दिशा-दिशा के घन-शृंगों पर अरुण ध्वजा फहरायी ।

तम-प्रकाश की आँख-मिचौनी रुकी काल-अम्बर में,
उदित महा शतदल का केसर झरता लहर-लहर में ।

ज्योति-स्तम्भ गड़ गया क्षितिज पर, भू के अन्तस्तल में,
जिसकी हँसी धँसी जनधारा के गम्भीर अतल में ।

जल-समाधि लेंगी पल में वे सोने की नौकाएँ
जो कि धार-प्रतिकूल चल रहीं किरण-पाल फैलाये ।

ली विवेक ने उठा दिया श्रद्धा का मुख-अवगुंठन,
यह गतिमय, रति, प्रकृत-पुरुष का यह अभेद आलिंगन ।

आज सृष्टि संगीत बना यह कंठ-कंठ का नारा—
जयति-जयति जाग्रत जन-धारा, जय अजस्र जन-धारा ।

जय जन-जीवन-धारा ।
जय जय जय जन-धारा ।

हिमालय

पत्थर भी है कितना रसमय, मैं जान गया,
इस जड़ में भी है चेतनता, मैं मान गया।
पत्थर की छाती पर सोई है हरियाली
भुज-बन्धन में बंध गई लता, पहिचान गया।

मानिक मदिरा में मग्न घाटियों का स्वामी,
मधु बालायें चम्पई धूप, छाया श्यामी,
वासना नहीं बुझती है पीकर भी क्षण-क्षण
बाँधे रस-घन स्वप्नाकुल बन गामानी।

घन की उड़ती परियाँ करती हैं आलिंगन,
थरथराये अधरों का करती विद्युत चुम्बन,
बहने लगता गिरि शिरा शिरा में रस मन्थर
खिल जाते हैं तन में लघु लघु मुस्कान सुमन।

निर्झर नदियों में गल बहता जिसका अन्तर
जाने क्या फिर भी कहलाता यह गिरि पत्थर।

दिवालोक

१४-६-४६

"निज जन्म दिवस पर कवि मित्रों के नाम पत्र"

साही, नामवर, विलास, त्रिलोचन, हरिमोहन
सर्वेश्वर, रमा, महेन्द्र, भारती औ' गिरिधर
चन्दोला, ठाकुर, बच्चा, केशव, विग्रव, नमन
करता सबको निज जन्म दिवस के अवसर पर।

तुम सबका स्नेह, प्रेम, श्रद्धा कटु आलोचन
मैंने पाया, आ रही इसी से बार बार
साथियो, तुम्हारी आज याद! सुनता' इस क्षण
मैं बैठ हिमालय की चोटी पर पुकार

पिछले जीवन की घाटी की। चौतीस वर्ष
इस जीवन के तो बीत गये हैं अनजाने।
बीते सपनों से दीख रहे अवसाद - हर्ष
वे जो थे कभी सत्य, प्राणों के पहिचाने।

वे ओढ़ समय की राख बुझे से अंगारे
कर्मों के सोये हैं, उनकी उष्मा लेकर
ही जीवन ऊपर उठा। सदा गाढ़े हारे
तुम सबने टेक मुझे दी जीवन के पथ पर।

तुम सबसे जो कुछ मिला वही तो जीवन का
पाथेय बना; जीवन - यात्रा का यह सम्बल
मेरे कंधों का भार नहीं होगा; मन का
संवेग, हृदय की आग, बुद्धि - विस्तार नवल,

चरणों में गति की प्यास, कण्ठ का गीत मुखर,
अधरों की बहती हँसी, प्यार के विरह - मिलन,
प्राणों की करुणा - धारा, नयनों के द्रव स्वर—
वह सब कुछ जिसको मैं कहता हूँ अपना धन

जिसमें मैं पाता बिम्ब तुम्हारा भी। मेरी
यह जीवन की लहलहा रही, मैं देख रहा
उग नये मोड़ पर बैठ मेड़ की, यह खेती
जिन प्राणों के रस से हरियाली बनी यहाँ

से फूटा वह चेतना - स्रोत जिसका प्रवाह
मेरी खेती की श्यामलता बन लहराया
इस मरु में ? पिछले जीवन का वह दुःसह दाह
बह गया, ऊसर धरती पर सावन घन आया!

\+ \+ \+

ऐ माली वह दिन याद ? समय के मिला - चित्र
का अनदेखा अलबम मन में खुल गया, सहज
यह जीवन अपने ऊपर उठ गया। मित्र,
तुमने मुझको पहिचाना पथ पर, वह पंकज

पंक से उठा कर लिया कण्ठ का हार बना।
उर के सर में जो उगा कमल था क्या उसका
ही चित्र गीत मेरे थे जो तुमने अपना
सब स्नेह अयाचित डाल दिया मुझ पर, जिसका

आभार - वहन कर सकने मेरे शब्द नहीं!
मानव - आत्मा के शिल्पी से तुम आज चतुर
बन गये खिलाड़ी राजनीति के किन्तु कहीं
तुम जला न देना निज सपनों के चित्र मधुर!

हे श्रीकान्त, तुमको मैंने देखा सरपट
दौड़ते रेल सा ही जीवन की पटरी पर
अति तीव्र वेग से, मेरे इतने रहे निकट,
फिर भी देकर अपना श्रद्धानत स्नेह अमर

तुम मुझसे आगे निकल गये। होते जाते
अब दूर - दूर आँखों से ओझल, मेरे शश!
पर मैं कच्छप गति से चलता हूँ, इस नाते
उपहास नहीं करना मेरा। प्रिय, आलस - वश

पथ पर न बैठ रहना, न भटक जाना वन में
वादों के और विवादों के, यह अभिलाषा
मेरी। मानवता से है बढ़कर जीवन में
कोई न वाद; पूरी करना मेरी आशा!

हे वाणी के मधुमय विलास, तुम यों निराश
होकर क्यों बैठ गये पथ पर? बन कर स्वामी
जीवन का भोगो उसे; नहीं जल जाय प्यास!
लड़कर खोजो वह स्रोत की जिससे आगामी

पीढ़ियाँ बुझाती रहें प्यास; तुम बनो अमर
यश के शरीर से, इस तन की चिन्ता छोड़ो!
वह स्वयं करेगा अनुधावन। वाणी का वर
तुमने पाया, अपने जीवन का रथ मोड़ो

नूतन पथ पर। जो स्नेह और जो सुविधायें
है तुम्हें मिलीं, उनका उपयोग करो हो रत
कर्मों में। टल जायेंगी सारी विपदायें,
शारदा - पुत्र! देखो जीकर शत ग्रीष्म - शरत।

हे मित्र त्रिलोचन तुम ही, है तीसरा नयन
वाणी में, सुधा - स्निग्ध नयनों में है वाणी;
कर दिया व्यर्थ तुमने तुलसी का सिद्ध वचन,
फूटती हृदय के फौव्वारे सी कल्याणी

कविता जिससे अनवरत, तुम्मारी बन्धु धन्य
वह है निर्झर लेखनी, अग्नि – हिम सुधा–गरल

जिससे सरस रहते अरु दूर। तुम हो अजेय!
आभारी हूँ, मैंने तुमसे वह ज्ञान सरस

पाया जिससे जीवन-मंथन करना जाना,
दुख-व्याल नाथ फन पर सवार होना सीखा।
तुमसे आशंसा, आलोचना, हँसी ताना
पाकर पी गया, दिया जो कुछ मीठा-तीखा।

हे हरिमोहन प्रिय मित्र तुम्हारा हृदय हरण
मैंने सीखा तुमसे, तुम तो हो मात्र हृदय,
उन्मुक्त हृदय ही बंधु तुम्हारा सम्मोहन।
तन की जीवन की ममता तज तुम निस्संशय

बढ़ रहे हृदय के पथ पर नहीं विवेक-ज्ञान
के तुम गुलाम! मकड़ी के जाले सा बुनते
रहते मन का ताना-बाना फिर हार मान
खुद ही उसमें फँसते, सुर का साज, सुनते

तुम हो किसकी? फिर भी कहता महानन्द
के हे विश्वासी, हृदय कर्म-बाधक न बने।
जीवन-संघर्षों बीच उभर बन कर अमन्द
प्रज्वलित ज्योति सा साधक, सच करो सपने।

सर्वेश्वर तुमको सरस्वती ने वरण किया
करके कुछ सोच-विचार, देर से, लेकिन जब
वर लिया बाँस को वन के वंशी बना दिया।
अधरों पर धर वह चमत्कार कर दिया कि अब

तुम भी निज को शायद पहिचान नहीं पाते।
है बुद्धि चमत्कृत हुई तुम्हारी, पर न हृदय,
अब भी गा गा कर मेरे गीत न तुम थकते,
मेरे गीतों का मान नहीं, वह तो सहृदय

कवि के प्राणों के वन का है मर्मर उत्सव
रन्ध्रों में बँधने को आकुल। तुम आज यन्त्र
वाणी के नये प्रयोगों के! लय — स्वर अभिनव!
इस कोलाहल में खो देना मत स्वर स्वतन्त्र,

प्रिय रमानाथ, यह सत्य कि तुम हो कवि केवल।
उज्ज्वल आत्मा का सित प्रकाश भीतर–बाहर
फैला समान बनकर प्राणों का प्यार, विमल
ममता, मधुमय मुस्कान, कण्ठ काकली मधुर।

नवनीत हृदय! गल कर तुम निज को रहे जला
देने को मधुर प्रकाश जगत को। आलिंगन
करते रहते झंझाओं का। तप कर निकला
व्यक्तित्व तुम्हारा इस जग की ज्वाला से। मन

मेरा कितना है निकट तुम्हारे यों रहकर
भी दूर-दूर तुमसे! अपने इस जन्म दिवस
पर पाता मैं ज्योतित तुमको भी निज पथ पर।
हे दीप, न होना मन्द देश या काल-विवश।

मेरे महेन्द्र, जीवन-सरि के हे शिला खण्ड
अप्रतिहत, स्थिर, आ गया कभी बहता-बहता
तिनके सा पास तुम्हारे मैं। फिर एक अखण्ड
धारा को तज मैं रुककर देता रहा। पता

मुझको न लगा कैसे बीता युग क्षण सा।
सहसा मैं फिर बह चला कहीं धारा में मिल,
पर देख रहा, तुम अब भी ज्यों के त्यों मनसा
निर्लिप्त खड़े, करके शरीर का स्पर्श सलिल

बह जाता, पर तुम समाधिस्थ अपने में प्रिय
मैं बुला रहा तुमको, अब भी करके हलका
निज भार बह चलो धारा में, सहचर, सक्रिय
बन अब, कल-कल संगीत सुनाओ तुम कल का।

भारती, मानो नये वेश में है उतरी
तुमम, तज कर वीणा, लेकर तूणीर भरे
जिनमें फूलों-शूलों के शर। स्वर की लहरी
से नहीं, व्यथा से चमत्कार से वह गहरे

घाव मन में कर देती। देखा जब प्रथम-प्रथम
अनुभूति मात्र तुम लगे, आज कल्पना कान्त
बन नई भूमिका में उतरे। क्या लगती भ्रम
अनुभूति-भूमि ? भारत की वह भारती भ्रान्त

मत बने, भूमि के संघर्षों को आकर्षक
उसको नभ में उन्नत मन दे, बहुजन का मन
वह मोह सके। कहता तुमसे था अपनापन,
प्राचीन सभी क्या बुरा ? भला क्या सब नूतन ?

गिरधर, यह जीवन है भारी गिरि गोवर्धन।
इसको निज उंगली पर धारण कर सको अगर
मिट जाय भाग्य भ्रम शव-साधना, मृत्यु-पूजन।
तम के बादल फट जायें, दिशायें उठें निखर,

नव जीवन नव आशाओं का केशर-कुमकुम
किरनों से झरने लगे, जाय बन कर्म मुखर
खोई-खोई जिन्दगी। जवानी यह गुम सुम
बह चले प्रखर जल-धारा सी करती हरहर

मस्ती की बाढ़ लिये। तुमसे मैंने पाया
निश्छल उर पर बदले में कुछ भी दे न सका।
मेरे पिछले जीवन ने था जो सिखलाया
तुमको मैं हूं दे रहा मन्त्र वह जीवन का।

चन्दोला, तुमसे हुआ द्वन्द्व में जो परिचय
कितना अभिन्न वह बना ? स्वप्न से दिन बीते

लगते। हिमके कोकिल, पत्थर का कठिन हृदय
तुमने पिघलाया कभी, रूप मन्दिरा पीते
गिरि-घाटी की प्याली से, स्वर से बरसाते
मधु की ज्वाला तुम थे क्षण-क्षण; काकली कहाँ
वह ? मध्य वर्ग में पैदा होने के नाते
हम दो वर्गों के द्वन्द्व बीच पिस रहे; यहाँ
हम सब की है गति वही। न मधुकण, आज गरल
आओ मिलकर कण्ठों से बरसायें, हे कवि !
जो कोटि-कोटि के लिए बन्द उस रंग महल
के द्वार तोड़ देखें हम भी जीवन की छवि !

ठाकुर, मैं सबसे अधिक तुम्हारा आभारी।
तुम मेरे पथ पर कभी मील के पत्थर बन
या खतरे का सिगनल या सुमन-शूल - क्यारी
बन कभी मलय-मधुवात कभी कोकिल-कूजन
मुझको बल देते रहे, उड़ाई धूलि अनिल !
तुमने जो उससे हुआ हृदय दर्पण निर्मल।
पर एक बात कह दूँ, अग्रज के नाते, दिल
पर हाथ रखो, सोचो, जो कुछ है शिव-मंगल
वह सत्य और सुन्दर से यदि है बहुत दूर
तो क्या वह है आराध्य ? नहीं क्या मानवता
की माँग कि शिव हो सुन्दर, सत्य न बने क्रूर ?
कवि बनो बन्धु, कविता ही देगी राह बता !

प्रिय विन्ध्यवासिनी दत्त, तुम्हारा सम्बोधन
"बच्चा" ही है व्यक्तित्व तुम्हारा मूर्तिमान,
विद्रूप बने व्यक्तित्व अगर "बच्चू" "बच्चन"
कह तुम्हें पुकारूँ मैं, तुमने देवता मान
मेरा पूजन ही किया, नयन में लिए हृदय
तुमने मेरा सत्कार किया, दे उर-आसन

मैंने भी बढ़ाया तुमसे। सहसा मधुमय
सपनों के क्षण उड़ गये, आग से घिर जीवन
यह मेरा तपन लगा कम का कोलाहल
बन गया सत्य जीवन का। पर तुम में बचपन
अब भी हँसता। तब पर उगती ममता पागल,
आशा वह ज्वालामय पर जुझा रहा यौवन!

केशव, हे स्मिति मुस्कान हास के अभिनन्दन,
परिहास व्यंग के रंग रंगे हे आराधक
साहित्य-कला के, है ऐसा कुछ सम्मोहन
तुममें, कि कसौटी भूल बना था आलोचक
मेरा मन बह जाता। अनजान अधरों पर
खिल जाते हैं उन्मुक्त हास के रजत-सुमन।
हँसते बचपन बीता, यौवन यह जिन निखर
जलना पथ पर चलना, मिट जाती किन्तु तपन

हँसी आती जब याद तुम्हारी। जीवन भर
यह हँसी-खुशी मस्ती बेफिक्री का आलम
रह सके अगर तो केशव, बेगा से क्या डर?
मन हो जवान तो वृद्धावस्था तो है भ्रम!

हे विश्व, भारती के भावुक, कवि चित्रकार।
हे मानवता के व्रती, बन्धु सच्चे सहृदय।
आ रही आज क्या याद तुम्हारी बार बार?
मैं एकाकी सम्मुख उन्नत गिरि गहन वलय

मेघों के बढ़े मग्न, उस ओर पार
पर्वत निर्झर की लहरों के, अम्बला धवल
हिम-श्रृंगों की लगती जैसे यह मिट्टदार
अलका का रानी ने निर्मित। यह छवि चंचल

वाणी में बाँध नहीं पाता, हे निर्मोता
नव-नव रूपों के, काश कि तुम होते इस क्षण
इस चोटी पर। रेखा रंगों में बंध जाता
यह रूप प्रकृति का उच्छृङ्खल।

कर रहा नमन

मैं उन सबको जो भी मेरे हैं हम राही।
शारदा-पुत्र! चौंतीस सीढ़ियाँ जीवन के
चढ़कर मैं हूँ देखता कि मंजिल मनचाही
मिल ही जाती है; व्यर्थ नहीं सपने मन के

होते, कुछ कदम साथ चल वे बल जाते मर।
मानव जो लगते साथ कदम से कदम मिला
बन जाते एक इकाई, ज्यों बूंदें जमकर
बन जाती हैं हिम शिला। चेतना जड़ित शिला

को भी करती शत-खण्ड कला के दीवाने
भी सुन युग की, ललकार मिलाकर कदम चलें,
मानव आत्मा के शिल्पी निज पथ पहिचानें!
सामाजिकता की नयी चेतना ले निकाले!

मानवता की मंजिल है हमसे दूर नहीं,
वर्गों-भेदों को तोड़ विषम ये दीवारें
समता का खोलें द्वार, ध्येय हो आज यही!
साथियों उठो, पथ पर आगे आओ प्यारे!

माध्यम मैं

मैं माध्यम हू
विराट स्वर-तांत्रिक का,
मुझमे उतरा करती हैं आत्माये ।
तांत्रिक करता है प्रश्न
और आत्माये उत्तर देती हैं ।
मेरी वाणी
बन छन्द, गीत, लय
सहज निरकुश निर्विकार
अस्पृष्ट अह से मेरे
फूट बहा करती ।
तांत्रिक जब जो पूछा करता
वाणी उत्तर बन जाती है ।
इस शब्द चित्र मे मेरा 'मैं' कुछ नही
क्योकि मैं माध्यम हू ।

सात बजे

रात बीत गयी !

दीख रही घास हरी,
किरण कलित ओस भरी,
इन्द्र-धनुष मयी !

उतर रही तरु-तृण पर
कुहा धूम में छिप कर
धूप-वधू नयी !

धरती पर विहग रचित
गूँज रहे गीत हरित
बन कर चम्पई !

जाड़े का मुखर प्रात,
टन टन कर बजे सात
एक साथ कई !

रात बीत गयी !

टेर

टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?
किसकी यह छाँह
और किसके ये गीत रे ?
बरगद के छाँह
और चैता के गीत रे ।
सिहर रहा जिया तुम कहाँ ?
किसके ये काँटे हैं
किसके ये पात रे ?
बेरी के काँटे हैं
केलें के पात रे ।
बिहर रहा हिया तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?
कौन से टिकोरे ये
किसके ये फूल रे ?
आम के टिकोरे ये
महुये के फूल रे ।
विरम गये पिया तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?
किसकी ये आँखें हैं
किसकी यह रात रे ?
बिरहिन की आँखें हैं
सावन की रात रे ।
बुझता यह दिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?

१९५२ शाहदमर्ग

पूजा के बोल

बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

नवमी का चाँद बुझा
हवा उठी जाग,
तैरता अँधेरे पर
मिला-जुला राग !

गीत की हिलोरों पर रात रही डोल !
बजता है ढोल कहीं पूजा के बोल !

नीम का हिंडोला औ,
मालिन का द्वार,
एक बूँद की प्यासी
माँ रही पुकार !

यह पुकार नींद के किवाड़ रही खोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

बाहर की साँय-साँय,
भीतर की ऊब,
हलके पद नाप रहे
डिमडिम में डूब !

मन में सुगबुगा उठे सपने अनमोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

गाने लगा जी, जैसे
बीन-ठगा साँप,
उठता गिरता स्वर का
लहरों पर काँप।

पाल खुली, नाव बही सुधि की अनमोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

पतझर

मन का आकाश उड़ा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

बीती बातों पर सर टेककर
टेर रहा मन भूली नींद को,
धूप छाँह की गंगा-यमुना में
डुबो रहा हँस-हँस उम्मीद को !

अपना विश्वास लुटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

सूनेपन की बाँहों में फँस कर
रुक रुक कर चलती दिन की साँस है,
खंडहरों की दीवारों में बस कर
करता खसमस फागुन मास है !

दुपहर का दीप बुझा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो !

हाड़-मांस की गठरी सा जीवन
जीवित जैसे नंगी डाल है,
खड़ खड़ कर उड़ते खरसे पत्तों
फैला भूपर झिलमिल जाल है !

आँखों का स्वप्न मिटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

मैं वह पतझर, जिसके ऊपर से
धूल भरी आँधियाँ गुजर गयीं,
दिन का खँडहर जिसके माथे पर
अँधियारी साँझ की ठहर गयी !

जीवन का साथ छुटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

पगडंडी

छिप छिप कर चलती पगडंडी घनखेतों की छांव में !

अनगाये कुछ गीत गूंजते
है किरनों के हास मे,
अकुलाई सी एक वुलाहट
पुरवा की हर सांस में !

सूनापन है उसे छेड़ता छू आँचल के छोर को,
जलखोत मी बुला रहे हैं बादल वाली नाव मे !

अंग-अंग में लचक उठी ज्यों
तरुणाई की भोर में,
नभ के सपनों की छाया को
आँज नयन की कोर में।

राह बनाती अपनी कस काँटों में, संख सिवार में,
कांदों-कीच पड़े रह जाते, लिपट-लिपट कर पाँव में !

पाँतर पार धुवाँरी भौहों
की ज्यों चढ़ी कमान है,
मार रहा यह कौन अहेरी
सधे किरण के बान है ?

रोम-रोम ज्यों बिंधे तीर, टूटीं सीमा मरजाद की,
सुध-बुध खो चल पड़ी अकेली अपने पी के गाँव में।

रुनझुन बिछिया झींगुर वाली
किंकिन ज्यों बक-पांत है
स्वयंवरा वन चली बावरी
क्या दिन है, क्या रात हैं ।
पहरु से कुछ पीली कँलगी वाले पेड़ बबूल के

बरज रहे, री पाँव न धरना मोरी कहीं कुठाँव में।
अपना ही आँगन क्या कम जो चली परायें गाँव में ?

आठवाँ रंग

बन्द दरवाजे, खिड़कियाँ, ये रोशनदान,
सभी द्वार बन्द, नहीं कोई भी प्रवेशद्वार!

मेरे सप्ताश्व अतिथि भूल कर रोका यान
तुमने यहाँ पर। सुन बन्दीगृह की पुकार
अरुण ने शत-शत वल्गाओं को खींचा व्यर्थ!
तुमने भी दुर्निवार सप्त शर मारे तान!

किन्तु व्यर्थ, इतना तुम्हारा श्रम किस अर्थ?
विश्वनयन, रुके अश्व साथी की बात मान
अन्धकूप से घर के द्वारे, जिसके भीतर
एक अन्ध गाता है जीवन के अन्धगान!

गहरा, गहरा, गहरा होता जाता सागर,
तल के वासी तक पहुँचे कैसे ज्योति-बाण
हे प्रकाशदेव निज लौटा लो सातों रंग?
मैं हूँ आठवें रंग में डूबा, मैं अरंग!

वर्जित पथ

यह आम रास्ता नहीं
इधर से मत जाओ,
इस गलियारे से जाना
वर्जित है !
इसमें जीवन की घड़ी
बन्द होकर सोई,
इसमें भीषण तूफान मचलते हैं।
इसमें अंधियारी
काली चट्टानों-सी जमी हुई,
इसमें बिजली के अन्धड़ चलते हैं !
यह निर्मम कालदेव के
महादुर्ग का तोरण द्वार,

इधर से मत जाओ।
यह आम रास्ता नहीं,
इधर से जाना वर्जित है।

इस गलियारे में
महिष-कण्ठ की
किंकिणियाँ बजतीं,
इस महामार्ग में
भूतनाथ की बारातें
सजतीं ।

इस ओर न सूरज की किरनें आतीं,
इस राह न चन्दा की डोली जाती,
इसमें
सुनसान
दहाड़ें भरता है,
ज्वालामुखियों का
दर्द उमड़ता है !
यह नीलकण्ठ-सा गलियारा,

इसमें लहराता
विष का पारावार,

इधर से मत जाओ।
यह आम रास्ता नहीं,
इधर से जाना वर्जित है।

इसमें कितनी ही
प्यासी आत्मायें मँडराती हैं,
भूली-भटकी आँखों की
उल्कायें टकराती हैं।
घुँधवाती काली आग
यहाँ जलती,
इन उड़ते जोड़ों को
जो झंझावातों में
डालों से चुन कर
बिखर गये।
उन पंखों को
जो नभ में तुले नहीं
बस खुलते-खुलते
सहसा ठहर गये।
मैं द्वारपाल हूँ
प्रश्नचिह्न-सा महाकार

इस गलियारे के द्वार,
इधर से मत जाओ।
यह आम रास्ता नहीं,
इधर से जाना वर्जित है।

डूबा नगर

एक अजगर सी लहर आयी
बहा कर ले गयी मुझको
उस द्वीप के तट पर
जहाँ सागर
पर्वतों के चरण पर रख शीश
बेसुध सो गया था।
कौन,
यह था कौन
जिसने अंक में ले
चुम्बनों से भाल, अधर, कपोल भर
नव जन्म मुझको दिया
स्वप्न का यह देश
जिसमें मुझे जाग्रत किया,
सिन्धु में उभरी
झुकी सी शिला पर मुझको बिठाया।
कहाँ ? मैं हूं कहाँ ?' मैं था प्रश्न,
उत्तर ....
कौंधता सा एक अस्फुट स्वरः
तुम जहाँ बैठे हुए
वह सिन्धु में डूबी हुई मीनार का
उभरा शिखर है।
युगों से डूबा नगर
मेटालियन यह
ढका जल की पारदर्शी चादरों से,
उसे देखो,

सिन्धु में झाँको
वह नगर दिखने लगा

वह नगर दिखने लगा
वे भव्य ऊँचे भवन
तिरछी भित्तियों पर झिलमिलाती मूर्तियाँ
वे अप्सरायें, राजकन्यायें,
विलासी पुरुष
जिनके हाथ के प्याले अधर तक
आज भी पहुँचे नहीं हैं।
मन्दिरों के गर्भ
जिनमें देवता अब भी प्रतिष्ठित
किन्तु पत्थर,
निरे पत्थर रह गये हैं।
ये चतुष्पथ
ये नगर के राजमार्ग विशाल
ये अट्टालिकायें
और उनके पार्श्व की अन्धी अगम गलियाँ
नसों के जाल सी उलझी हुई हैं।
वह महल
वह राजसिंहासन,
किसी सम्राट की अब भी प्रतीक्षा कर रहा जो।
मृत्यु के स्थापत्य में ये चैत्य
जिनमें
रत्नमण्डित स्वर्ण के ताबूत में
कुछ राजपुरुषों के ममी सोये हुए हैं,
पास में जिनके अतुल धन-राशि
रक्षित है समुद्री अजगरों से।

यह नगर
जल की गुफाओं में
युगों से सो रहा है।
सिन्धु की लहरें भयंकर
गरजती ऊपर
दिशाओं को हिलाती !
ज्वार का उद्दाम कोलाहल
समुद्री आंधियों का भीम गर्जन
सिन्धु के ऊपरी तल को ही
सदा विक्षुब्ध करते,
किन्तु नीचे की अतल गहराइयों मे
शान्ति, अक्षय शान्ति !
जहाँ यह निर्जन नगर
निस्पन्द
हर विक्षोभ से अस्पष्ट,
शीशे के महल में बन्द
औषधि-सिद्ध शव सा
सो रहा है !

तीव्र कांक्षा का उठा आवेग;
उस डूबे नगर ने
मुझे अपनी ओर खींचा।
मुँद गयीं आँखें,
विवश मैं सिन्धु में कूदा
राज सिंहासन मुझी को टेरता था ।:

जब खुली आँखें,
कि यह क्या ?

बसा बाहों में किसी की,
काष्ठ के टूटे फलक पर
एक निर्जन द्वीप के तट आ लगा हूं !
मैं कहां ? तुम कौन ?
दिशाओं में प्रश्न गूंजा,
सहज उत्तर मिला—
यह तुम्हारी मन:सृष्टि
अतृप्ति का यह द्वीप।
मैं तुम्हारी वधू प्रज्ञा
सिन्धु-कन्या हूं।'

क्षण दर्शन

आज का यह क्षण नहीं पहला, अकेला।
राह पर छूटे, महंकते,
लाल, पीले, श्वेत, नीले क्षणों का
यह एक लम्बा सिलसिला है।
आज का यह क्षण नहीं पहला, अकेला।

काल की वे लघु पताकायें
लिखे कुछ नाम जिन पर
इसी क्षण की एक संकरी राह से
उनका गुजरता काफिला है।
आज का यह क्षण नहीं पहला अकेला।

ढाल आगे, ढाल पीछे,
शिखर पर जलता हुआ यह क्षण गुलाबी,
रोशनी की गन्ध
दोनों ओर भरने को खिला है।
आज का यह क्षण नहीं पहला अकेला।

गन्ध में डूबी हुई इन घाटियों में
एक से दूसरे पर चढ़ते उतरते
अनगिनत फण और जीने के लिए
यह क्षण मिला है।
आज का यह क्षण नहीं पहला अकेला।

गजल

प्यार किस देवता से श्रम मेरा।
प्यार की आरती है गम मेरा।

वो मेरे देवता छिपे रहना
खुल न जाये कहीं भरम मेरा।

चाँद सूरज है आइने जिसके
लोग कहते उसे वहम मेरा।

जिन्दगी की अंधेरी गलियों मे
इसकी पूजा है हर कदम मेरा।

सर झुकाया तो देखता क्या हूँ
धूल मे मिल गया अहम मेरा।

राज वह कौन सा छिपा जिसकी
खोज मे हैं जनम-जनम मेरा।

याद करता हू इसलिए हरदम
जाने कब टूट जाय दम मेरा।

इन्द्र धनुष

सबके अपने-अपने इन्द्र धनुष होते हैं जिन्हें वे खूँटियों में टाँगते और
आलमारियों में बन्द करते हैं।

हर दो के बीच का इन्द्रधनुष एक सेतु होता है जिसके ऊपर दूरियाँ
घटती हैं और नीचे निकटता कटती है।

हर इन्द्रधनुष टूटता है और टूट कर जुड़ता नहीं है क्योंकि हवाएँ उसे
उड़ा ले जाती हैं।

हवा में उड़ते इन इन्द्रधनुषों को छायाग्राही फूल खींच लेते हैं, रंग-
जिह्वा तितलियाँ चूस लेती हैं और आकाशलोभी बच्चे पतङ्ग बनाकर उड़ाने
लगते हैं।

घण्टी बजा कर रुई-सी मिठाई बेचने वाला इतिहास इन्हीं इन्द्र धनुषों की
राह से गुजरता है किन्तु उसके पदचिह्न इन पर अंकित नहीं हो पाते।

अपने खण्डित शीशमहल में प्रतिबिम्बित होने वाले इन इन्द्रधनुषों की
जगमगाहट को गाने वाला मैं अभी पैदा नहीं हुआ हूँ।

१९६१ 'खण्डित सेतु

मातृभाषा

समुद्र ने मेरे हाथों में घासों की पाल दे दी और मैंने उसे वह बाँसुरी, जिस पर बैठकर मैंने द्वीपान्तरों की यात्राएँ की थीं।

समुद्र के चेहरे पर एक उदास दिन अंकित हो गया। मैंने अपने सभी कीमती वस्त्र उतार कर उसके चरणों पर रख दिये और लहरों का एक झीना उत्तरीय पहन कर इस मत्स्यकन्या के साथ तटवर्ती भीड़ में घुस पड़ा।

मेरा वक्तव्य लिख लो कि मैं नंगा नहीं, पारदर्शी हूँ, अश्लील नहीं, सत्य हूँ।

प्रवालद्वीप की यह राजकन्या मेरी विवाहिता वधू है। धूप, हवा, लहरें और वरुण देवता मेरे साक्षी हैं कि मैंने लेकिन तट के पहरेदारों, तुम क्या मेरी मातृभाषा समझ रहे हो?

डल झील की एक शाम

उस यहाँपन
और इस वहाँपन के बीच
एक गाँठ है जिसे घाटी की हेलेन
हर शाम आकर खोल देती है
झील में बुझती रोशनी की एक मोटरबोट
पश्चिम से पूरब को दौड़ जाती है
और मेरे भीतर
एक चौड़ी सड़क बन जाती है
जिसके दोनों ओर
सफेदा और चिनार की
लम्बी कतारें होती हैं
जिन पर आकाश
अपने डैने समेट कर बैठा होता है।
नदियों और झीलों का अर्घ्य लेकर
घाटी की हेलेन
बर्फीली चोटियों पर बेखबर सो जाती है।
घर-घर घूम पानी बाँटते पहाड़ी सोते
धान के खेतों में घुसकर
दुबक जाते हैं।
एक अनाम पक्षी
झेलम को बार-बार पुकारता है
और उस झील में अचानक
बिजली की रोशनी की बाढ़ आ जाती है
जिसमें शिकारों और हाउसबोटों की
रंगीन फासफोरसी मछलियाँ
डूबने उतराने लगतीं हैं।

१९६२ खण्डित सेतु

मातृभाषा

समुद्र ने मेरे हाथो मे शखो की थाल दे दी और मैंने उसे वह बासुरी, जिस पर बैठकर मैंने द्वीपान्तरो की यात्राएँ की थी।

समुद्र के चेहरे पर एक उदास दिन अकित हो गया। मैंने अपने सभी कीमती वस्त्र उतार कर उसके चरणो पर रख दिये और लहरों का एक भीना उत्तरीय पहन कर इस मत्स्यकन्या के साथ तटवर्ती भीड मे घुस पडा।

मेरा वक्तव्य लिख लो कि मैं नगा नही, पारदर्शी हूँ, अश्लील नहीं, सत्य हू।

प्रवालद्वीप की यह राजकन्या मेरी विवाहिता वधू है। धूप, हवा, लहरे और वरुण देवता मेरे साक्षी हैं कि मैंने लेकिन तट के पहरेदारों, तुम क्या मेरी मातृभाषा समझ रहे हो?

१९६१

'खण्डित सेतु'

नयी दिल्ली की काली रात

वे जाने चेहरे अनजाने-से हैं,
यह राह विरानी पहचानी-सी है !

पानी से धुले हुए रंगों वाली
नीले-पीले धब्बों की शाम गयी !
उतरी है बरसे हुए बादलों से
ऊँचे महलों पर काली रात नयी !
है चाँद कैदखाने में कुहरे के,
चाँदनी हुई पानी-पानी-सी है !

काली-गोरी तसवीरों के पन्ने
उड़ते थे जिन रंगीन हवाओं में;
उनकी मुट्ठी में बन्द कराहें हैं,
हल्की चीखें हैं कसी भुजाओं में !
वैभव की सतरंगी मीनारों में
सपनों की दुनिया दीवानी-सी है !

ये सूनी सड़कें, खाली चौराहे,
लगते हैं बदले हुए मुखौटे-से,
दिन के मेले से थके और ऊबे
लगते ये घर अपने घर लौटे-से !
यह रात अँधेरे के गलियारों में
लगती सन्नाटे की रानी-सी है !

शहर में

शहर की दूषित हवाओं के बीच
मेरा आक्सीजन का थैला होता है मेरे पास
और एक अपनी टार्च लाइट भी होती है।

कौन जाने किस क्षण

शहर की बिजली गुल हो जाय
और अपनी ही आँखों को
सूझ न पड़े अपने हाथ।

१६६२

'खण्डित सेतु'

नयी दिल्ली की खाली रात

वे जाने चेहरे अनजाने-से हैं,
यह राह विरानी पहचानी-सी है!

पानी से घुले हुए रंगों वाली
नीले-पीले धब्बों की शाम गयी!
उतरी है बरसे हुए बादलों से
ऊँचे महलों पर काली रात नयी!
है चाँद कैदखाने में कुहरे के,
चाँदनी हुई पानी-पानी-सी है!

काली-गोरी तसवीरों के पन्ने
उड़ते थे जिन रंगीन हवाओं में:
उनकी मुट्ठी में बन्द कराहें हैं,
हल्की चीखें हैं कसी भुजाओं में!
वैभव की सतरंगी मीनारों में
सपनों की दुनिया दीवानी-सी है!

ये सूनी सड़कें, खाली चौराहे,
लगते हैं बदले हुए मुखौटे-से,
दिन के मेले से थके और ऊबे
लगते ये घर अपने घर लौटे-से!
यह रात अँधेरे के गलियारों में
लगती सन्नाटे की रानी-सी है!

काले पत्थर की दीवारों पर मैं
उजली रेखा खींचता चला जाता,
बादल को अपने कन्धों पर लादे
जलती सड़कें सींचता चला जाता!
पढ़ता मैं अंधियारे के हस्ताक्षर,
मुझको रोशनियाँ बेमानी-सी हैं।

जादूभरी इस नगरी की रातें
कर देती हैं ऐसा जादू-टोना,
जो छूने जाता पत्थर बन जाता,
जो छू जाता हैं बन जाता सोना!
पर एक तिलिस्मों के सौदागर से
ये छाया-छवियाँ बेगानी-सी हैं।

तीन सुरंगें

पैगम्बर तो मर गये
पर क्रास पर लटका आदमी
अभी जी रहा है।
महासागरों की लहरों पर
लिखे हुए नाम
हवा में उछाल दिये गये हैं,
एक बूढ़ा मछुआ
ह्वेल को नाथता
और उसे अपने जहाज की ओर खींचता है,
और तभी एक भयानक गिद्ध
उस बूढ़े की छाती में
चोंच मारता है,
बूढ़ा जहाज के डेक पर गिर पड़ता है।
गो कि वह बूढ़ा मछुआ
अब मर गया है
पर वह आदमी अभी जी रहा है
जिसकी छाती में
तीन सुरंगें बन गई हैं!
एक सुरंग अतीत के शिखरों के
नीचे से गुजरती हुई
यूनान के एथेन्स नगर में निकलती है
जहाँ एक बूढ़े दढ़ियल पागल को
जहर का प्याला पिलाया जा रहा है।
दूसरी सुरंग

वर्तमान की सात समुद्री लहरों के,
नीचे से गुजरती हुई
अमेरिका के डलास नगर में निकलती है
जहाँ एक पागल नौजवान
गोली मारकर ऐंठता हुआ
अपनी पत्नी की गोद में लुढ़क गया है।
तीसरी सुरंग
भविष्य की अंधेरी गुफाओं में
गुम हो गयी है।
आगामी पीढ़ियों की लाशें
क्या इसी सुरंग के रास्ते
श्मशानों और कब्रिस्तानों में
पहुँचायी जायेंगी ?

गुलमर्ग में दिसम्बर

प्यार, प्यार, प्यार,
एक साथ सातों कमरों मे
एक ही आवाज गूंजती है।
कमरा नम्बर इतवार से कमरा नम्बर
शनिवार तक के दरवाजे
बाहर से बन्द हैं !
उनमें लटकते बड़े बड़े ताले
इस आवाज से हिल रहे हैं !
बर्फ जमी छत,
निर्जन होटल,
शरीर को वेधने वाली तेज बर्फानी हवा
और कमरों में गूंजती एक ही
आवाज—
प्यार, प्यार, प्यार !

+ +

अहाते में
वेगुजारे हुए कुछ देवदारुओं के
क्षण हैं
जो अपनी अपनी जगह पर
मजबूती से खड़े हैं
मगर काँप रहे हैं
नीचे से ऊपर तक।
पहाड़ की इस फूल-कटोरी में
समय की सफेद भाग

जम कर कड़ी हो गयी है
जिसे कासिम का घोड़ा रौंद रहा है।
उसकी टापों से
टूटती हुई बर्फ में
एक ही आवाज चोटी से चोटी तक
गूंजती है—
प्यार, प्यार, प्यार!

\+ + +

फर पहरेदार हूँ
जंगलों के नीचे से गुजरती
पगडण्डी के।
घर पहरेदार हूँ
आदमी के भीतर से गुजरते हुए आदमी के,
फिर चाहे वह
बैरा हो या मुसाफिर
या कासिम घोड़े वाला,
और मैं पहरेदार हूँ
इतवार से शनिवार तक के
दिन सात कमरों के बीच से
गुजरने वाले
उस अदृश्य गलियारे का
जिसके इस छोर से उस छोर तक
बार-बार गूंजती है
एक ही आवाज—
प्यार, प्यार, प्यार।

१९६५

बातें घर की

छोड़ो बातें दुनियां भर की,
आओ, कुछ बात करें घर की।

गमलों को धूप से हटा दो,
बुझी हुई अँगीठी जला दो,
गर्द झाड़ दो इन परदों की
बिस्तर की सलवटें मिटा दो।

लहरों में डूब दोपहर की
आओ, कुछ बात करें घर की!

बाहर ये कितनी आवाजें,
शोर-शराबे बाजे-गाजे!
छण भर अपनी भी कह-सुन लें,
बन्द करो खिड़की-दरवाजे!

बिगड़ी है हवाएं शहर की!
आओ, कुछ बात करें घर की!

सड़कों की ये दुर्घटनायें,
कमरों के भीतर मत आयें,
घर के अन्दर भी खतरे हैं,
देख कर चलो दाएं-बाएं!

छोड़ो बातें इधर-उधर की!
आओ, कुछ बात करें घर की!

मौसम की ठंढ से न कांपें,
भीतर की गरमाहट तापें,
देहरी से आंगन तक चल कर
अनजाने क्षितिजों को नापें!

ओ मेरी धूप दिसम्बर की!
आओ, कुछ बात करें घर की!

१९६५

कल की प्रतीक्षा

पिछले रविवार को
नाई ने बाल काटे थे, सोमवार को
माली ने लॉन की घास पर तलवार चलाई थी।
मंगलवार को खिड़की पर रखा बड़ा शीशा गिर कर
चूर-चूर हो गया था।
बुधवार को टामी ने एक छछूंदर मारी थी
बृहस्पतिवार-बच्चों के एक
झुण्ड ने कटी पतंग के पीछे दौड़ लगाई थी। शुक्रवार का
पूरा दिन एक समाचार था
किसी परिवार की सामूहिक आत्महत्या का,
शनिवार कसाईबाड़े के पास वाली गली से नाक पर
रूमाल रखकर गुजरा था। और आज रविवार का पूरा दिन
मैंने निरर्थक हस्ताक्षर
लिखने और काटने में गुजारा है।
मगर अभी शाम बाकी है जो हमेशा की तरह
अपनी है। इस शाम को लेकर अब मैं उस भीड़ में
घुस जाऊँगा जो
न कहीं शुरू होती है न खत्म।
भीड़ शहर की है और शहर एक ओर नदी में
पाँव लटकाये और दूसरी ओर खेतों में बाँह फैलाए सोया है।
भीड़ शहर की नसों में
बहती है और भीड़ की नसों में
एक और मुर्दा शहर सोया है। मगर मैं
जानता हूँ, कल शहर की नींद खुलेगी

और भीड़ की नसों का
मुर्दा शहर जी उठेगा। लोग-बाग
भीड़ से अलग हो कर नदी में नहायेंगे,
नौजवान धारा को काटते हुए आर-पार तैरेंगे,
अधपके बालों वाले
प्रौढ़ जन भीड़ को चीरते हुए
आगे बढ़ जायेंगे, और पाँवों के जंगल में
भटकते हुए बच्चे उससे बाहर निकल आयेंगे।
कल का दिन
बालों को बढ़ायेगा,
परसों का दिन लॉन की घास को
फिर अगला दिन, फिर अगला दिन, फिर......

१९६५

घर और सड़कें

घर घर की खिड़कियाँ खुलीं,
सड़के हैं धूप में धुली।

हर छत है नंगी चोटी
चट्टानों सी हर दीवार,
हर कमरा बन्द गुफा है
हर दरवाजा कटा पहाड़,

हर आँगन की घाटी में
खुशियाँ हैं त्रास पर तुली।

घूमते हुए सब पहिये
भागते हुए से सब पाँव,
चौरस्तो पर बहती भीड़
गलियों मे बिखरा भटकाव,

उठती हैं बन कर संगीत
आवाजें ये मिली-जुली।

आँखो मे खोई नजरें
जेबों मे कटे हुए हाथ,
कंधों पर लटकी बाँहें
छाती पर झुके हुए माथ,

खाली - खाली है सबकी
होठों से सटी अंजुली।

फुटपाथों के पेड़ो पर
झुक आयी रिक्त दिशायें,
उलटी छवियो सी लगती
आकृतियों की छाया,ये,

संवेदन की शिरा - शिरा
तेजाबी गन्ध मे घुली।

प्रश्नचिह्न सी सब रातें,
हर दिन है एक परीक्षा,
हर दुख जीने का दुख है
हर सुख है मरण-प्रतीक्षा,

जीवन ज्यों दरवाजे के
पल्लो मे दबी अंगुली।

१९६५

दीवार की वापसी

[एक मध्यवर्गीय व्यक्ति के मकान का बैठका, जिसे वह बड़े गर्व से 'ड्राईंग रूम' कहा करता है, उसमें तीन कुर्सियाँ और एक छोटी मेज है जिस पर एक गदा मेजपोश है, एक तरफ तख्त जिस पर बिस्तर लपेट कर रखा है। इस कमरे से भीतर के कमरे में जाने का एक दरवाजा है। दोनों कमरों के बीच की दीवार में एक ६ फीट लम्बी ४ फिट चौड़ी, छड़दार खिड़की है जिसमें लगा परदा दोनों ओर खींच कर हटा दिया गया है। खिड़की दीवार में इतनी ऊँचाई पर है कि भीतर इसके सामने खड़े व्यक्ति का कमर से ऊपर का हिस्सा ही दिखाई पड़ सकता है। भीतर वाला कमरा सोने का कमरा है जिसे वह व्यक्ति 'बेड रूम' कहता है। भीतरी कमरे में एक के ऊपर एक रखे कई बक्स तथा दीवार की अलमारी दिखाई पड़ती है जिस पर शीशा, कंघी, तेल आदि प्रसाधन की वस्तुएँ रखी हैं। बैठके में दायीं और बाहर जाने का दरवाजा है। दर्शकों की ओर बैठके की एक दीवार होगी पर इस समय वह नहीं है क्योंकि यदि वह होती तो नाटक नहीं देखा जा सकता था। अतः मान लिया जाये कि मंच का सामने का परदा ही वह दीवार है। नाटक दिखाना है, इसलिए उस दीवार को हटाना जरूरी है। परदा हटता है तो वह व्यक्ति उसका नाम? हटाइए उसका नाम जान कर क्या होगा? सभी मध्यवर्गीय नौकरपेशा लोगों की तरह वह भी समय और कायदे-कानून का पाबन्द एक सामान्य व्यक्ति है। इसलिए वह 'क' है—जो कमीज-पाजामा पहने है और अखबार पढ़ने में लीन दिखाई पड़ता है। एकाएक सामने की ओर देखकर वह आश्चर्य से बोलता है।]

क अरे-अरे यह क्या हो गया? अजी सुनती हो? कहाँ हो तुम? दौड़ो यह देखो। (भीतर की ओर देखता है। भीतर उसकी पत्नी—उसका नाम? क की पत्नी है इसलिए उसे 'का' कह लीजिए—'सूटकेस' बन्द कर रही है।

वह जल्दी-जल्दी दरवाजे से बैठक मे आती है। कपड़े पहन कर वह कहीं जाने को तैयार है।)

का : क्यो, हो गया ? इतना शोर क्यो कर रहे हो ?

क : (दर्शकों की ओर हाथ दिखा कर) देखती नहीं ? यहाँ की दीवार ? अरे, यहाँ की दीवार क्या हो गयी ? उड़ गयी या जमीन में चली गयी, आखिर वह हो क्या गयी ?

का : दीवार ? यह क्या दीवार है ? पागल हो गये हो क्या ? आँखों के सामने ही सही-साबित दीवार है और कहते हो कि दीवार उड़ गयी ? हुँ— अजीब आदमी है ?

क : दीवार है ? (आँखें मल कर देखता है) नहीं मैं दावे के साथ कहता हूँ, दीवार नहीं है। तुम्हें रोज देखने की आदत है जिसमे दीवार दिखाई पड़ रही है। मुझे तो नहीं दिखाई पड़ रही है।

का : (हँसती हुई) अच्छा मान लिया, दीवार नहीं है। लेकिन अपनी घड़ी तो देखो, क्या वक्त हुआ है ? साढ़े सात बज रहे होंगे। मुझे वहां साढ़े आठ तक पहुँच जाना चाहिए। अभी बस के लिए जाने कितना रुकना पड़े।

क : तो कहाँ कलकत्ता-बम्बई जाना है तुम्हें ? नयी दिल्ली से पुरानी दिल्ली जाने मे क्या देर लगती है। मगर का, आखिर यह दीवार! (सामने की ओर आश्चर्य से देखता है।)

का : (क्रोध से) बन्द करो यह बकवास ? मैं कहती हूँ, मुझे जाने की जल्दी है और तुम हो कि बस यह दीवार, यह दीवार की रट लगाये जा रहे हो। (भीतर चली जाती है)

क : (पीछे की ओर मुड़ कर) अच्छा तो फिर जाओ, मुझे इसमें क्या करना है।

का : (अपना 'वैनिटी बैग' लेकर लौटती हुई) देखो, मैंने अपना विचार बदल दिया है।

क : (चौंक कर) क्या अब वहाँ नहीं जाओगी ?

का : यह नहीं, मैं तो जाऊँगी ही, पर तुमको भी साथ ले चलूँगी। पता नहीं, तुम यहां क्या कर डालो।

क : (प्यार से) का, प्लीज, आज छुट्टी का दिन है। मुझे घर पर ही आराम करने दो।

का नहीं, मुझे अब विश्वास नहीं हो रहा है कि तुम अकेले ठीक ढंग से रह सकोगे।

क अरे वाह, मैं क्या कोई बच्चा हूँ जो प्याले और गिलास तोड़ दूँगा? क्या तुम डरती हो कि अकेला होने पर मुझे लकड़बग्घा उठा ले जाएगा?

का मैं तुम्हें खूब जानती हूँ। मैं न रहूँ तो तुम्हारा एक भी काम पूरा न हो। अपने से न ठीक समय पर उठ सकते हो, न समय से खाना खा सकते हो, न आफिस जा सकते हो। तुम्हारा रत्ती-रत्ती काम मुझे करना पड़ता है। अगर मैं न होती तो बहुत पहले आफिस से निकाल दिये गए होते। न रहने का तरीका मालूम, न जीने का सलीका। मैं तो ऊब गयी हूँ तुम्हारे इस ऊलजलूलपन से।

क उलजलूलपन? तुम भूल रही हो कि यदि मैं ऊलजलूल होता तो दिल्ली में एक दिन भी नहीं टिक पाता।

का तो तुम्हारा टिकना मेरी वजह से है, तुम्हारी वजह से नहीं। खैर, अब जल्दी से कपड़े बदल लो। (भीतर जाकर पैंट, कमीज लाती है) लो, कपड़े बदलो।

क कपड़े बदल लूँ? यहीं? (दर्शकों की ओर दिखाता हुआ) इतने लोगों के सामने?

का कितने लोगों के सामने? यहाँ कौन है। अजीब बात है। सामने ही यह दीवार है और

क तुम मुझे बेवकूफ बना रही हो 'का'। कहाँ दीवार है?

का अच्छा मान लिया, दीवार नहीं है। यहाँ शरम आ रही है तो भीतर जाकर कपड़े बदल आओ। लेकिन जल्दी करो। (ढकेल कर उसे भीतर कर देती है। स्वयं बैग खोलकर छोटा शीशा और लिपिस्टिक निकालती है। शीशे में देखकर लिपिस्टिक से ओठ रंगती, फिर गालों पर 'रूज' मलती है। एकाएक उसकी नजर कोने में पड़े एक बण्डल पर पड़ती है जो अखबार में लिपटा है।)

का यह लो। यह कोने में क्या रख छोड़ा है? मैं लाख बार कह चुकी हूँ कि यह 'ड्राइंग रूम' है इसे 'ड्राइंग रूम' ही रहने दो, कबाड़खाना न बनाओ, पर तुम हो कि मानते ही नहीं। जो भी चीज लाते हो, यहीं पटक देते हो। जूते खोल कर यहीं रख दोगे, कपड़े कुर्सियों पर फेंक दोगे। (बण्डल उठाती

हुई) आखिर इसमें है क्या ? (मेज पर रखकर खोलती है। उसमें से पाँच मुखौटे निकलते हैं, रामलीला में बिकने वाले मुखौटे) अरे सुनते हो, यह क्या लाए हो ? (खिड़की से झांककर) अजी तुम बोलते क्यों नहीं ? कहाँ हो ?

क की आवाज : 'बाथरूम' में हूं। आ रहा हूं। (जल्दी जल्दी बाहर आता है।)

का : (क को देख कर क्रोध से) यह सब क्या है ? रबिश।

क : अरे छोड़ो भी। ये खिलौने हैं।

का : तुम्हें शरम नहीं आती ? घर में बच्चे भरे पड़े हैं क्या जो ये पाँच-पाँच मुखौटे उठा लाये ?

क : आज नहीं हैं तो क्या कभी होंगे ही नहीं ? पड़े रहेंगे ये।

का : दस बरस शादी को हुए, अब तक एक चूहे का बच्चा भी नहीं जनमा और बच्चों के खेलने के लिए यह....

क : खैर छोड़ो इसे, जल्दी करो। (घड़ी देखता हुआ) देखो, आठ बज रहे हैं।

का : चलो, इसे भी लेती चलती हूं, बाहर फेंक दूंगी।

क : अरे अरे, यह क्या कह रही हो ? आखिर पैसे देकर खरीदे हैं।

का : इसीलिए तो फेकूँगी ताकि आगे फिर कभी ऐसी बेकार चीजें न खरीदो।

क : अगर तुम इन्हें फेंकने पर ही तुली हो तो फिर मैं तुम्हारे साथ न जाऊँगा।

का : (मुस्कुराती हुई) अच्छी बात है, रख लो। लेकिन 'ड्राइंग रूम' में नहीं, (हाथ में देती हुई) भीतर 'स्टोर' में रख आओ।

(क उन्हें लेकर भीतर जाता है और का वहीं से कहती है।) अजी सुनो स्टोर में तो मैंने ताला बन्द कर दिया है। 'बेड रूम' में ही कहीं नीचे रख दो। और बाहर के दरवाजे में बन्द करने के लिए ताला लेते आना।

का : (शीशा निकाल कर मुंह देखती है।) चाभियों का गुच्छा भी वहीं है, लेते आना। (जूड़ा ठीक करती है)

47731
शम्भुनाथ सिंह
प्रतिनिधि रचनाएँ
समकालीन प्रकाशन, 1967

क (ताला और चाभियों का गुच्छा हाथ में लिए हुए बाहर आता है) बाहर तो ताला बन्द करोगी मगर यह दीवार तो है नहीं। इसका

का (अत्यन्त क्रुद्ध होकर) चुप रहो। मैं कहती हूं, मुझे पागल मत बनाओ।

क (जोर से) तो क्या मैं झूठ कह रहा हूं? कहाँ है यहाँ की दीवार? ये सामने इतने आदमी हैं, क्या यह झूठ है?

का हे भगवान। मैं कहती हू या तो तुम्हारी आंखों को कुछ हो गया है या मेरी आंखों को।

क बेशक, हममें से किसी एक की आंखों को कुछ हो गया है। लेकिन इसका निर्णय कौन करेगा कि किसकी आँखें खराब हैं, मेरी या तुम्हारी?

का (कुछ सोच कर) अच्छा, निर्णय हो जायेगा। लेकिन इस समय तो यहाँ से चलो, देर हो रही है।

क हाँ अब तो काफी देर हो गयी है। तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें साढे आठ बजे बुलाया था और आठ बज कर दस मिनट यहीं हो गये।

का अरे तो क्या देर हो गयी? बाहर निकलते ही दो मिनट में बस अड्डे पर पहुंचेंगे। अगर १ नम्बर की बस मिल गयी तो सीधे कश्मीरी गेट १५ मिनट में पहुंचाएगी। कुछ भी देर नहीं हुई है चलो।

क लेकिन हम लोग इस विषय पर कोई समझौता करके तब चलें कि यहाँ दीवार है या नहीं?

का - मैं तो देख रही हूँ कि है।

क और मुझे दिखाई नहीं पड़ती।

का एक बात सुनो, तुम हमेशा मेरी बात मानते हो न?

क हाँ, मानता तो हूँ।

का तो इस बार भी मान लो कि दीवार है।

क क्या मानने के सिवा और कोई चारा नहीं है?

का नहीं है, नहीं है, नहीं है। बस मान ही लो।

क अच्छी बात है। अगर मेरे मान लेने से ही हम लोगों में समझौता हो जाए तो मान लेता हूँ कि यहाँ दीवार है।

का केवल समझौते के लिए मत मानो। अपने मन में बैठा लो कि यहाँ दीवार थी, है और रहेगी।

क : मन में बैठा लूँ ? अच्छी बात है। मन में बैठा लिया कि यहाँ दीवार है, दीवार है, दीवार है, दीवार है, दीवार—

का : हाँ अब ठीक है। ऐसे ही अच्छे लड़के की तरह रहो।

[आगे पीछे दोनों निकलते हैं। बाहर से क दरवाजा बन्द करता है। कुण्डी बन्द करने और ताला लगाने की आवाज।]

[आगे के पाँच मिनट तक मंच खाली रहेगा। मंच पर पहले धुँधलापन छा जाता है, फिर नीली रोशनी भर जाती है। थोड़ी देर में दरवाजा खटखटाने की आवाज होती है। बाहर से बोलने की आवाजें आती हैं।]

एक व्यक्ति : अरे बुद्धू, देखते नहीं, ताला बन्द है; खटखटाते चले जा रहे हो ?

दूसरा व्यक्ति : अरे हाँ, तो हजरत के घर में आज तालाबन्दी है।

पहला व्यक्ति : मरदूद इतवार को भी घर में आराम नहीं करता।

दूसरा : कौन जाने 'पिकनिक' मनाने ओखला गया हो।

पहला : हो सकता है, दोनों कोई अंग्रेजी फिल्म देखने गये हों।

दूसरा : हो सकता है, सब्जी लाने गये हों।

पहला : खैर, कुछ भी हो सकता है। अब खड़े क्या हो यहाँ ? चलो दूसरा दरवाजा खटखटाएँ। यहाँ की चाय तो गयी।

दूसरा : चलो, सोनी के यहाँ चलें।

[आवाजें बन्द हो जाती हैं। फिर पूर्ववत् शान्ति। मंच पर रोशनी बुझ जाती है, अंधेरा हो जाता है। फिर पीला प्रकाश-वृत्त भीतर वाले कमरे में इधर-उधर घूमता है। सहसा वह बुझ जाता है और दूसरा नीला प्रकाश-वृत्त बैठक में एक कुर्सी पर पड़ता है, फिर दूसरी कुर्सी पर, फिर तीसरी पर, अन्त में मेज पर आकर स्थित हो जाता है। बाहर से ताला खोलने और बोलने की आवाज। क दरवाजा खोल कर भीतर आता, पर दरवाजे पर ही रुक कर बाहर वालों से बातें करता है।]

क : चले आओ दोस्तो, मैदान खाली है। (बाहर देखता हुआ।) आओ भई, भीतर क्यों नहीं आते ?

एक आवाज : क्या आएँ भीतर ? भाभी जी तो हैं नहीं, और तुम चाय बनाना जानते नहीं।

दूसरा लेकिन यह भी खूब रही। उनको बस में बैठा कर खुद बाहर ही रह गये।

क तो मैं क्या करता भाई। वहाँ पहुँचने के पहले ही बस आ गयी थी। वह ठसाठस भरी थी और बाहर लम्बी लाइन लगी थी। श्रीमती जी लाइन से आगे जाकर बस में घुस गयीं। जब मैं घुसने लगा तो लोगों ने मेरी बाँह पकड़ कर मुझे रोक दिया। इसी बीच बस चल पड़ी।

दूसरी आवाज चलो तुम्हें तो इसी बहाने छुट्टी मिली।

क छुट्टी मिली या जान की आफत आयी। मैं तो यही सोचता हुआ वापस आ रहा था कि क्यों न मैं भी दूसरी बस से चला जाऊँ।

पहली आवाज तो वापस क्यों आ गये? चले जाना चाहिए था।

क मैं तो बस सोच रहा था, वापस तो मेरे पाँव आ रहे थे।

दूसरी आवाज (लम्बी हँसी के बाद) लेकिन यार, बहाना तुमने अच्छा ढूँढ़ा पाँव वापस आ रहे थे। (फिर हँसता है।)

क सच कहता हूँ, अगर तुम लोग न मिल गये होते तो मैं जरूर दूसरी बस से चला जाता।

दूसरी आवाज तो अब भी क्या बिगड़ा है, चले जाओ। हम लोग तो अब सोनी के यहाँ जा रहे हैं।

क अच्छी बात है, जाओ। मैं भी दूसरी बस से चला जाऊँगा। (दर-वाजा भीतर से बन्द करके सिटकनी लगाता है और भीतर आते हुए जोर से हँसता है, इतना हँसता है कि हँसी रुकती ही नहीं। हँसते-हँसते एक कुर्सी पर बैठ कर सुस्ताता और फिर हँसने लगता है और फिर जूते सहित पाँवों को मेज पर फैला देता है और जूतों को खूब हिलाता है, फिर एक पैर ऊपर करके हिलाने लगता है, वह पैर थक जाता है तो दूसरा पैर ऊपर करके हिलाता है, जब वह भी थक जाता है तो खड़ा होकर बारी-बारी से दोनों हाथों को देर तक हिलाता है, फिर सर को चारों ओर घुमाता, फिर मनमाने ढंग से हाथ-पैर भाँजता और उछल-कूद करता है, एकाएक रुक कर अपने कपड़ों को देखता है, फिर कुर्सी पर बैठ कर जूतों के फीते खोलते हुए गाने लगता है "फेंक दो—फेंक दो—हाँ-हाँ जूतों को फेंक दो।" इसके बाद जूते उतार कर वह बारी-बारी से छत की ओर उछाल देता है, पैंट के बटन खोलने लगता है, ऊपर के दो बटन खोलने पर भीतर का जाँघिया देखने के लिए उसकी डोरी वाला भाग ऊपर खींचता है। इसके बाद पैंट के बटन खोल कर वह उसे

जमीन पर पटक देता है; जाँघियें की डोरी पर हाथ लगाये हुए इधर-उधर देखता है। एकाएक उसकी नजर सामने के दर्शकों पर जाती है।)

क : (घबरा कर) अरे दीवार दीवार तो है नहीं। (भाग कर पहले बाहर वाले दरवाजे के पास कोने में छिपता है. फिर तेजी से दौड़ कर भीतर वाले दरवाजे से सोने के कमरे में घुसता और आड़ में छिप जाता है। फिर (खिड़की के सामने आकर) अरी कम्बख्त दीवार, तू कहाँ चली गयी है? अच्छा, आ, आ, ले, यह जाँघिया पहन। (छड़ से बाहर हाथ निकाल कर जाँघियाँ बाहर फेंक देता है। फिर नीचे झुक कर एक मुखौटा उठाता है और उसे उलट-पलट कर देखता है। मुखौटा बन्दर का है। मुखौटे को दोनों हाथों में वह इस तरह लेता है कि मुखौटे का मुँह उसके मुँह के सामने है और दर्शक दोनों का मुँह देख सकते है) *कहिये हनुमान जी अब, तो पकड़ में आये? (जोर से हँसता है) भई आओ, हम अपने चेहरे* बदल लें। मुखौटा अपने चेहरे के ऊपर लगाकर सिर के पीछे रस्सी में गांठ देता है शीशा लेकर अपना रूप देखता और जोर-जोर से हँसता है। तभी बाहर से दरवाजा खटखटाने की आवाज आती है।)

क · (धीरे से) न जाने कौन खूसट आया। सालों को अपने घर मे अच्छा नही लगता। (जोर से) खोलता हूँ। कौन साहब हैं? (धीरे से) अरे मेरा पाजामा, मेरा पाजामा कहाँ हैं? (इधर उधर खोजता है। बाहर से फिर खटखटाने की आवाज आती है) कमबख्त पाजामा भी कहीं घूमने चला गया। (धीरे से) घबराइये नहीं, अभी खोलता हू। (धीरे से) अच्छा यह का, की साड़ी है। (वस्त्रों पर रखी साड़ी उठा कर दोहरी करके लुंगी की तरह लपेट लेता है और लपक कर बाहर निकलता है। दरवाजे के पास जाकर सिटकनी खोलता है। आगन्तुक सिर नीचे किये उसकी साड़ी की ओर देखता हुआ भीतर प्रवेश करता है। वह वृद्ध व्यक्ति है, हाथ में छड़ी है।)

आगन्तुक : माफ़ कीजिएगा, मैंने आपको तक़लीफ दी। वे कहीं बाहर गये हैं क्या? खैर, मैं तब तक बैठूंगा जब तक वे आ नही जाते। (आगे बढ़ता जाता है, क, उसके पीछे पीछे है। आगन्तुक एक कुर्सी पर बैठ जाता हैं। वह सामने की ओर देखता हुआ बोलता जाता है।) आपको मेरी वजह से कोई तकलीफ नहीं होगी। जब आपके पति मेरे दामाद के दोस्त है तो आप भी मेरी बेटी के बराबर ही हुई। मेरी बेटी ने उन्हें बुलाया है कि बीच-बचाव कर दें। उसी ने मकान का पता बता कर भेजा है मुझे।

क जी—मैं…

आगन्तुक मेरे जमाने तो अब लद गये बेटी। हमारे जमाने में पति-पत्नी में लाख झगड़े होते थे पर मजाल क्या कि कोई बाहरी आदमी जान जाए। और अब तो जरा सी खटपट हुई नहीं कि पचायत, कचहरी मुकदमा अब इसी देखो न, मेरा दामाद .

क (नाराज होता हुआ) कौन है आपका दामाद ?

आगन्तुक (उलट कर उसकी ओर देखता और भौचक्का हो जाता है) आप आप (खड़ा होकर पीछे हटने लगता है)

क बताते क्यों नहीं ? कौन है आपका दामाद ?

आगन्तुक : (क को सिर से पाँव तक देख कर काँपता हुआ) जी, माफ़ कीजिएगा मैं गलत जगह आ गया था मैं ..

क अरे आप इस तरह काप क्यो रहे हैं ? बैठिए, जा कहाँ रहे है ?

आगन्तुक (पीछे की ओर हटता हुआ) जी यह आपका

क (आगन्तुक की ओर तेजी से बढ़ कर) आखिर आप कहना क्या चाहते थे ?

आगन्तुक (पीछे हटता हुआ दरवाजे के पास तक पहुँच जाता है) मैं मैं जी मैं कुछ नहीं । माफ़ कीजिएगा आपका चेहरा

क (एकाएक चेहरे पर लगे मुखौटे का ख्याल आता है। वह उसे जल्दी से उतार कर जोर-जोर से हसने लगता है। फिर शान्त होकर) यह चेहरा आदमी के पूर्वज आदम का है—पुरानी बुजुर्गवार, यह हम सबकी पुरानी और असली सूरत है। (फिर हसता है) लीजिए जरा आप भी शौक कीजिए। मैं आइना सा देता हू। उसमें आपको अपनी असली सूरत साफ़ दिखाई पड़ने लगेगी (आगे बढ़ कर यह आगन्तुक के पास पहुच जाता और मुखौटा उसके मुँह के पास ले जाता है।)

आगन्तुक (दोनों हाथ से रोकता हुआ और क्रोध से) तुम तो बड़े बदन-मीज मालूम पड़ते हो जी ? मेरी उम्र का ख्याल नहीं करते ?

क तो मेरी उम्र क्या आप पाच साल की समझते हैं ? आप साठ साल के हैं तो मैं भी पैंतीस साल का हू यह चेहरा हम दोनो का असली चेहरा है। लीजिए अपने हाथ में तो लीजिए।

आगन्तुक : (दरवाजे से बाहर निकलता हुआ) राम राम । मैं भी कहाँ आ फँसा ?

क : दरवाजे के पास पहुँच कर) अच्छा तो इसे अपने साथ लेते जाइए । घर में कमरा बन्द कर अकेले में इसे अपने चेहरे पर लगाईएगा । (उनके साथ में जबर्दस्ती थमा कर दरवाजा बन्द कर लेता है । फिर गम्भीर होकर लौटता हुआ) बेवकूफ़ बेहूदे भगगादड़ कहीं के ! और तुर्रा यह कि ये लोग अपने को आदमी समझते हैं जब कि असलियत यह है कि (दौड़ कर भीतर जाता बाकी मुखौटे लाकर मेज पर रखता और बारी-बारी से एक-एक को उठाता हुआ) ये सब के सब (भेंड़ का मुखौटा उठा कर) भेंड़ हैं (गीदड़ का मुखौटा उठा कर) गीदड़ हैं (गधे का मुखौटा उठा कर गधे है । (लोमड़ी का मुखौटा उठा कर) लोमड़ी हैं । बदसूरत मक्कार डरपोक कमअक्ल छिप कर वार करने वालें हिंसक ! हुंह । अपना चेहरा कोई नहीं देखता दूसरों का चेहरा सब देखते हैं (सहसा उसकी दृष्टि दर्शकों की ओर जाती है) अरे मेरी बनियान क्या हुई ? कमबख्त यहाँ की दीवार क्या हो गयी ? अजीब बात है ! अपने घर में ही एकान्त नहीं हैं । इतने सारे लोग मेरी ही ओर टकटकी लगाए देख रहे हैं जैसे मैं कोई चोर होऊं । हुंह अब अगर यहाँ बैठना है तो कपड़े पहनो । या खुदा ! (खड़ा होकर इधर उधर देखता फिर बनियान के पास जा कर उसे उठाता और पहनता है । फिर अपनी लुंगी को देख कर) और मेरा पाजामा...? वह किधर है ? (दर्शकों की ओर देख कर फिर भीतर के कमरे में जाता है । पाजामा पहन कर फिर बाहर आता कुर्सी पर बैठता और जम्हाई लेता है । फिर उठ कर तख्त के पास जाकर बिस्तर फैलाता और बैठता हैं ।)

क : पहले सिगरेट पी लूं तब सोऊंगा । मेरा सिगरेट केस ? (उठ कर कमीज के पास जाता और देखता है । सिगरेट का डिब्बा न पाकर कमीज को वहीं पटक देता है । फिर पैण्ट के पास जाता है । जेब से सिगरेट का डिब्बा और दियासलाई निकालता है । तख्त पर जाकर इत्मीनान से सिगरेट सुलगाता और धुएं के छल्ले ऊपर फेंकता है । बाहर से दरवाजा खटखटाने की आवाज ।)

क: नहीं खोलूंगा, मैं सोने जा रहा हूं । (फिर खटखटाहट) कह तो दिया, नहीं खोलूंगा

(बाहर से आवाज) : अरे भाई, खोलते क्यों नहीं ? ताश लेकर आया हूं ।

क (दौड़कर दरवाजा खोलता हुआ) अरे, खन्ना! आओ, आओ। मैंने समझा कोई और है।

खन्ना लेकिन यार भारी मुलक्कड़ हो। तुमने कल कहा था कि तुम मेरे घर ताश खेलने आओगे। छुट्टी के दिन घर में बैठ कर क्या कर रहे हो? लेकिन माजरा क्या है? ये कपड़े क्या बिखरे हैं?

क तो क्या हुआ? आखिर हूँ तो घर में ही।

खन्ना (हँसता हुआ) ओ, अब समझा। श्रीमती जी घर में नहीं हैं क्या?

क नहीं दिन भर के लिए मके गयी है।

खन्ना तब तो यार बहुत मजे रहेंगे। आओ, हो जाए 'फ्लश' (मेज पर ताश के पत्ते पटकता है। दोनों कुर्सियों पर बैठ जाते हैं।)

क हाँ, हो जाए! (कनखियों से दर्शकों की ओर देखता और धीरे से बोलता है) लेकिन यार, फ्लश तो जुआ ही है न?

खन्ना तो इससे क्या हुआ? सभ्य समाज में इसे जुआ नहीं कहा जाता।

क लेकिन पुलिस? पुलिस तो इसे जुआ समझती है न?

खन्ना समझती है तो समझा करे। हम अपने घर में हैं। कमरे की इन चार दीवारों के भीतर हम चाहे जो करें।

क (खड़ा होकर) बस बस यार, यही तो मैं कहना चाहता हूँ कि हम अपने घर में रहते हुए भी सड़क पर हैं।

खन्ना सड़क पर हैं? (जोर से हँसता है) सड़क पर हैं, या तुम्हारे कमरे में हैं?

क अपने कमरे में होते हुए भी सड़क पर हैं। एक चौकोर कमरे में कितनी दीवारें होती हैं?

खन्ना क्यों, चार दीवारें होती हैं।

क लेकिन दोस्त, मेरे इस कमरे में आज तीन ही दीवारें हैं। एक दीवार सवेरे से ही गायब है और कमरा सड़क पर पूरा का पूरा खुल गया है।

खन्ना बकवास कर रहे हो? चार दीवारें तो हैं (उँगली से चारों ओर दिखा कर गिनाता हुआ) एक दो तीन (अन्त में दर्शकों की ओर) चार।

क : इधर चार कैसे कहा ? यहाँ कहाँ दीवार है ?

खन्ना : क्यों, यह दीवार नहीं है ?

क : अब समझ गया, बकवास मैं नहीं, तुम कर रहे हो। मैं साफ देख रहा हूं कि इधर की दीवार नहीं है और हजारों आदमियों की भीड़ हमारी एक-एक हरकत को गौर से देख रही है। इस भीड़ में पुलिस वाले होंगे, खुफिया के लोग होंगे, पुलिस के दलाल होंगे, सरकारी अफसर होंगे। अभी तो ये सब तमाशबीन हैं, मगर कल.. नहीं भाई मैं फ्लश नहीं खेलूँगा।

खन्ना : अगर तुम्हें विश्वास है कि लोग हमें देख रहे हैं तो मत खेलो। लेकिन तुम्हारा दिमाग""

क : मेरा दिमाग खराब ही सही, तुम्हारा दिमाग ठीक है तो मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो।

खन्ना : मुस्कुराता हुआ उसकी आँखों में घूरता है।) अच्छा, पूछो।

क : क्या कोई ऐसा रास्ता है कि हम यहाँ जुआ खेलें, शराब पियें या चाहे जो करें, मगर इस भीड़ में उपस्थित पुलिस या और कोई हमें पकड़ न सके ?

खन्ना : (कुछ सोचता हुआ) मुझे तो कोई रास्ता नहीं सूझता।

क : अब देखो मेरे दिमाग की करामात। मैं रास्ता बताता हूं। (उसके कान के पास झुक कर, धीरे से) यार, अब तक ये लोग हमारा रहस्य जानने के लिए भीड़ लगा कर मेरी ओर देख रहे थे। क्यों न इन्हें चकमा दिया जाये ?

खन्ना : कैसे ?

क : (दो मुखौटे उठा कर मेज पर रखते हुए) ये मुखौटे लगा कर हम जो भी करेंगे, ये लोग समझेंगे कि हम नाटक कर रहे हैं। फिर कोई नहीं पूछेगा कि क्या कर रहे हो।

खन्ना : (कुतूहल से कभी मुखौटों की ओर, कभी क की ओर देखता हुआ) क्या बक रहे हो ? हम कोई बच्चे हैं जो मुखौटे लगायें।

क : मेरे भाई, बच्चे मुखौटे लगा कर खेलते हैं, बड़े लोग मुखौटे लगा कर नाटक करते हैं। लो, (गीदड़वाला मुखौटा उठाते हुए) इसे बाँध लो। लाओ, मैं बाँध देता हूं।

खन्ना : अरे-अरे, यह क्या कर रहे हो ?

क अगर फ्लश खेलना है तो बांधने दो। (जबर्दस्ती उसके चेहरे पर मुखौटा लगा कर पीछे रस्सी, की गांठ देता है। दूसरा मुखौटा, जो लोमड़ी का है, अपने चहरे पर लगाता है) देखो, लोग कैसे खुश हो गये! लो ये ताश के पत्ते!

खन्ना लेकिन पहले दरवाजा तो बन्द कर दो।

क शायद तुम भूल गये हो कि तुम नाटक के पात्र हो और दूसरों को तुम्हें देखने का पूरा हक है चाहे वे दरवाजे से देखें या पूरी दीवार तोड़ कर देखें। खैर, दरवाजा बन्द किये देता हूं। (दरवाजा बन्द करके सीधे भीतर के कमरे में जाता है और शीशा उठा लाता है।) आओ, खेल शुरु होने के पहले हम अपनी सूरतें देख लें। (अपने को देख कर) वाह, बिलकुल लोमड़ी लग रहा हू और तुम भी यार एकदम गीदड़ लग रहे हो। (शीशा दिखाता है) तुम्हारा असली चेहरा तो यही है।

खन्ना (शीशा हटाते हुए) भाई, अब तो मैं तुम्हारे इस खेल से ऊब रहा हूं। मैं जाऊंगा। बाज आया इस फ्लश से। (मुखौटा उतार कर क को देता है)

क वाह, जाओगे कैसे ? अब तो मैं मूड में आया हूं। बैठ जाओ प्यारे। जम जाने दो।

खन्ना (अपने को छुड़ाता हुआ) नहीं भाई, मुझे जाने दो। (उठ कर चलने लगता है)

क (हंसता हुआ) अरे यार तुम तो भाग रहे हो। सुनो, सुनो। (ताश उठाता हुआ) जा ही रहे हो तो अपना यह ताश लेते जाओ।

खन्ना लाओ, लाओ। आज जाने सवेरे उठकर किसका मुंह देखा था? (दरवाजे के पास खड़ा हो जाता है।)

क मुखौटा लिये हुए पास जाकर) अपनी बीबीका देखा होगा। (मुखौटे में रख कर ताश देता है, अपना मुखौटा उतार कर दिखाता हुआ) ठीक ऐसा ही था न ' इसे भी लेते जाओ। बीबी के चेहरे पर लगा देना और दोनो मिल कर फ्लश खेलना। (हाथ में मुखौटा थमा कर) अब जाओ। बाहर ढकेल कर दरवाजा बन्द करता और ठहाके लगाने लगता है साले, अपना असली चेहरा देखते ही भाग खड़े होते हैं। नकली चेहरा उतार कर असली चेहरा लगानेमें शर्म लगती है। 'कुर्सी पर बैठकर, नहीं, ऐसे नहीं, अब ऐसे

बैठूंगा। (पालथी लगा कर कुर्सी पर बैठता है।) देखता हूँ, मेरा कोई क्या कर लेता है ? देखे, जिसे देखना हो। (दोनों मुखौटा को उठा कर मेज पर रखता हुआ) मुखौटा भी लगाये रहूंगा, और कभी नहीं उतारूंगा— चाहे जो हो जाए। (गधेका मुखौटा लगाता है) अब फिर कोई आ रहा होगा। अच्छा, आए। चाहे जो भी आए, इस बार जबर्दस्ती मुखौटा बाँध दूंगा। देखा जाएगा। उल्लूके पट्ठे आकर सीधे कुर्सी पर बैठ जाते हैं। मैं कुर्सियोंके चेहरे भी बदल देता हूँ। (उठकर सभी कुर्सियों को उलटा कर देता है। (अलग हट कर उन्हें देखता हुआ) हां, अब ठीक है—(बारी-बारी से कुर्सियों को दिखाता हुआ) ये हैं कार्यालय अधीक्षक यानी आफिस सुपरिन्टेण्डेण्ट, ये हैं प्रधान लिपिक यानी 'हेड क्लार्क', ये हैं खजांची बाबू और (मेज पर बैठ कर अपने को दिखाता हुआ) और ये हैं किरानी बाबू, मिस्टर क, मिस्टर बुद्धू, मिस्टर गधा ! (जोर-जोर से हंसता है। बाहर दरवाजा खटखटाने की आवाज।)

क : (धीरे से) हाँ-हाँ, खटखटाओ, खटखटाते रहो। (फिर कुछ सोच कर) कौन है ? अरे जग्गू हो क्या ? मेरी फाइल लाये हो ? यार, अच्छे चपरासी हो। एक दिन बाद फ़ाइल ला रहे हो ? मैंने तो कहा था, रात ही में मेरे यहाँ पहुंच जाना। अब तुम इस वक्त ला रहे हो ? (फिर खट-खटाहट) रहो, खोलता हूं। आओ, तुम भी क्या कहोगे कि कहीं गया था! (जोर से) अभी खोला। (हाथमें मुखौटा उठा कर दरवाजे के पास जाता है। धीरे से सिटकनी गिरा कर दरवाजा खोलता और किवाड़की ओट में छिपता है। आगन्तुकके घुसते ही झपट्टा मार कर उसे देखे बिना ही उसके चेहरे पर मुखौटा बाँध देता है। आगन्तुक अभी दरवाजेके सामने ही है। वह स्तब्ध रह जाता है।) वाह भाई जग्गू ! अब तुम अपने असली रूप में दिखाई पड़ रहे हो। बिलकुल भेड़।

आगन्तुक : (वह क्रोध से मुखौटे को जमीन पर पटक देता है और पीछे मुड़ कर) बेटी, तुम जल्दी भीतर आ जाओ। राजेश, तुम भी आ जाओ। (दोनों भीतर आ जाते हैं। औरत क की और युवक क का भाई है। आगन्तुक क का पिता है। क उन्हें देख कर अत्यन्त चकित होता और जहाँ का तहाँ खड़ा रह जाता है। उसके मुंह से बोली नहीं निकलती।)

पिता : राजेश बेटा, जल्दी दरवाजा बन्द करो। कहीं यह भागने न पाए। बेटी, तुम ठीक कह रही थी। इसका दिमाग जरूर खराब हो गया है।

का (दुखी स्वर में) पिता जी, अब क्या होगा पिताजी ?

पिता राजेश, इसके दोनों हाथ पीठके पीछे बाँध दो। कौन जाने, यह फिर कुछ कर बैठे।

[राजेश आगे बढ़ कर क की ओर जाता है क पीछे हटता हुआ कुर्सियों के पास जाता है। का और उसके पिता जी सतर्क होकर आगे बढ़ते हैं]

का (कुर्सियों को देख कर) यह सब क्या हो गया है ? ये कुर्सियाँ–ये कपड़े ! पिता जी, मैं पहले ही कह रही थी, किसी डाक्टर को लेते चलिए।

पिता मैं क्या जानता था कि यह सचमुच पागल हो गया है ! मैं तो समझता था कि तुम्हें शक हो गया है।

का कुछ-कुछ शका तो मुझे यहाँ से जाने के पहले ही हो गयी थी। लेकिन जब ये मुझे बस में भीतर ढकेल कर खुद बाहर रह गये और मेरे बुलाने पर भी भीतर नहीं घुसे तो मेरा शक मजबूत हो गया। बस खुल जाने से मैं उतर भी नहीं सकी।

राजेश दीदी, तुम उतर कर भी अकेले क्या कर पातीं ?

पिता गनीमत है कि हम लोग जल्दी ही आ गये। अगर देर होती तो यह दीवाना बन कर सड़क पर निकल गया होता। देखते नहीं, चेहरे पर गधेका मुखौटा बाँध रखा है। (क की ओर देख कर गरजता हुआ) उतारो इसे। (क भयभीत होकर मुखौटा उतार लेता और अपने ससुर की ओर बढ़ाता है।)

पिता (उसे ले कर जमीन पर पटकता हुआ) राजेश, इसके हाथ बाँधो।

का पिता जी, पहले इनसे कुछ पूछिए। ये कुछ बोलें तो।

पिता अभी कुछ पूछना-समझना बाक़ी रह गया है क्या ? मेरे मुह पर मेंढका मुखौटा लगा दिया, अपने चेहरेको गधेका चेहरा बनाये था, कुर्सियाँ उलटी पड़ी हैं। कपड़े चारों ओर फिंके हैं। पागल के क्या कुछ और लक्षण होते हैं ?

का (खुद क के पास जाती हुई) क प्लीज, कुछ बोलो, कुछ भी बोलो। (क चुप हो कर उसकी ओर एकटक देखता है) यों मुझे देखते क्या हो ? कुछ बोलते क्यों नहीं ? अरे यही कह दो कि इधर दीवार है।

क : (क्रोधसे उबलता हुआ) मैं झूठ नहीं बोल सकता। सच्चाई यह है कि इस ओर की दीवार नहीं है। दीवार होती तो ये हजारों लोग कैसे दिखते ?

पिता : अब लो ! हम तीन जन देख रहे हैं कि वहाँ दीवार है और यह कहता है कि दीवार नहीं है। पागल और किसको कहते है ? जो सामने है उसे नहीं देखना और जो नहीं है उसे देखना, यही तो पागल की पहचान है।

राजेश : पिता जी......

का : लेकिन पिता जी हो सकता है इन्हें भ्रम हो गया हो, इनका भ्रम मिटाने के लिए पहले हम लोग ही कुछ करें। जब हमसे कुछ नतीजा न निकले तब डाक्टर को बुलाया जाये।

पिता : खैर, यही सही। मगर इसका भ्रम मिटाया कैसे जाये ?

राजेश : मैं बताता हूँ पिता जी। (क से) भाई साहब, आपकी आँखें उधर क्या देखती हैं ?

क : भीड़, भीड़में आदमी, आदमियों के चेहरे, चेहरोंमें आँखें, आँखोंमें भय, पीड़ा, मक्कारी, धोखा, फरेब, हिंसा—

राजेश : बस-बस। लेकिन हम लोग उधर दीवार देखते है। आपकी दो आँखों का देखना सही है या हमारी छह आंखोंका ?

क : मेरी दो आंखोंका, क्योंकि ये मेरी आंखें हैं, आप तीनों की या और हजारों लाखों की नहीं।

राजेश : आंखों की तरह आप हाथ से छूने को भी प्रमाण मानेंगे या नहीं ?

क : हां मानूंगा।

राजेश : तो चलिए, आप खुद अपने हाथसे चारों ओर की दीवारों को छू कर देख लीजिए।

क : चलो।

पिता : लेकिन इसकी आंखें ? अगर हाथ कहे भी कि दीवार है तो इसकी आंखें कहेंगी, दीवार नहीं है। मैं जानता हूँ, यह आंखों का ही कहा मानेगा।

का तो इसका तो सीधा उपाय है। इनकी आँखों पर पट्टी बाँध दी जाए।

राजेश बिलकुल ठीक।

पिता हाँ ऐसा ही करो।

राजेश दीदी, पट्टी बाँधने के लिए कोई कपड़ा लाओ।

का (क से प्यार पूर्वक) बोलो, पट्टी बाँध दी जाए न ?

क (अत्यन्त उदास होकर) हाँ, बाँध दो।

[का जल्दी-जल्दी भीतर जाकर एक तौलिया लाती है]

राजेश (हाथ में तौलिया लेते हुए) देखिए भाई साहब, (दर्शकों की ओर दिखा कर) इधर पूरब है न ? (जो भी दिशा हो उसी का नाम लिया जाये।)

क हाँ।

राजेश तो हम उत्तर की दीवार से शुरू करेंगे और अन्त में पूरब की दीवार तक आएँगे। (उत्तर की दीवार के पास ले जाकर आँख पर पट्टी बाँधता है) दीदी तुम इनका हाथ पकड़ कर आगे-आगे चलो (का क का बायाँ हाथ पकड़ कर आगे-आगे चलती है। राजेश क का दायाँ हाथ दीवार से सटा देता है।)

राजेश बोलिए, यह उत्तर की दीवार है न ?

क हाँ, है।

[सभी उत्सुकतापूर्वक आगे बढ़ते हैं। आगे-आगे का उसके पीछे क दीवार को छूते हुए। बगल में राजेश और उसके पीछे पिता।]

राजेश (पश्चिम की दीवार के पास मुड़ते हुए) यह पश्चिम की दीवार है। कहिए, दीवार है या नहीं ?

क हाँ है।

[सब वैसे ही उत्सुकतापूर्वक आगे बढ़ते हैं। दक्षिण की दीवार शुरू होने पर मुड़ जाते हैं।]

राजेश यह दक्षिण की दीवार है। कहिए दीवार है न ?

क हाँ, है।

[सब आगे बढ़ते हैं। ज्यों ही वे पूरब-दक्षिण के कोने पर पहुंचते हैं, परदा बन्द होने के लिए सरक कर कुछ आगे बढ़ जाता है।]

का : हम पूरब की दीवार के पास आ गये हैं।

राजेश : भाई साहब, यह......

क : (परदे को छूकर चिल्लाता हुआ) अरे, दीवार तो है ! का, दीवार तो वापस आ गयी। मेरी आँखें खोल दो। मेरी खुशी वापस आ गयी... दीवार वापस आ गयी खुशी वापस आ गयी।

[परदा पूरा बन्द हो जाता है। भीतर से पिता, राजेश और का की जोर की हँसी। उस हंसी के बीच क की डूबती आवाज, "दीवार वापस आ गयी....खुशी वापस आ गयी।]

पहिये

●

जब तक अंधेरा था, गाडी किसी बहुत लम्बी और कही न खत्म होने वाली गुफा मे से गुजरती सी लगती रही, किन्तु एकाएक जोरो से खटाखट्ट की आवाज सुनाई पडने लगी और लगा कि गाडी रात की गुफा से निकल कर प्रकाश मे किसी स्टेशन की सीमा मे पहुच गयी है। गाडी की गति मन्द होती गयी और वह प्लेट फार्म पर शान से आकर खडी हो गयी। सबेरा होने वाला ही था, बल्कि यों कहे कि हो गया था। लेकिन स्टेशन की जगर मगर करती बिजली की रोशनी मे वह गुमा-सा लग रहा था। मैंने खिडकी से बाहर गर्दन करके उधर देखा जिधर से गाडी आयी थी। लगा कि कुछ देरी के बाद ही वह गुफा शुरु हुई है, जिससे निकल कर गाडी वहाँ आयी थी। दूसरी दिशा मे भी रात का गलियारा एक लम्बी अँधेरी गुफाओं के बीच यह स्टेशन काले बालू के रेगिस्तान के बीच एक सगमरमरी नखलिस्तान-सा लग रहा था।

स्टेशन बहुत बडा था, इतना बडा कि आखें किसी ओर भी स्टेशन के आखिरी छोर को नही देख सकती थी। इधर-उधर, आगे-पीछे, नीचे-ऊपर सभी ओर स्टेशन ही स्टेशन था। धु धलका-भरे आसमान के नीचे वह सर्कस के गोल तम्बू जैसा लग रहा था। इतने बडे स्टेशन मे आदमियो की भीड और चहल-पहल नही थी, जिससे वक्त का सन्नाटा कई गुना हो गया था, और जिसे रह रहकर इंजनो की चीत्कार बेध देती थी। बिजली और टेलिफोन और सिगनल के तारो से सारा वातावरण बुना हुआ था। मैं जब कहीं से लौटकर फिर अपने भीतर आया तो पहली नजर मे यह जगह तारो से घिरा एक विशाल कैम्प जेल लगा। लेकिन तभी मेरा ध्यान खिडकी के बाहर के एक मनोरंजक दृश्य की ओर चला गया।

\+ +

ओवरब्रिज के नीचे प्लेटफार्म संख्या चार पर दो खम्भों के बीच एक गठरीनुमा बोरा पड़ा था। मुझे वह धीरे-धीरे हिलता-डुलता दिखाई पड़ा। मैं गौर से उसे देखने लगा। पहले उस बोरे में से एक सिर निकला जिस पर लम्बे-लम्बे कटे बाल थे। निश्चय ही वे किसी फैशनपरस्त महिला के अधकटे बाल नहीं थे बल्कि तेल और धूप से चिपचिपे किसी नाचने वाले लड़के के जैसे बाल थे। फिर बोरा उठा तो एक पीठ बाहर निकली और फटी कमीज के छेद से मेरी ओर झाकने लगी। पीठ का चमड़ा गोरा था। फिर बोरा पूरा हट गया और उसमें से एक अधूरा मगर तन्दुरुस्त जिस्म निकल आया। जिस्म सही सलामत लगा सिवा एक पांव के जो शायद किसी दिन जिस्म को छोड़कर कहीं चला गया था और फिर नहीं लौटा था। जिस्म पर उस फटी कमीज के सिवा एक खाकी हाफ पैंट भी था जो गन्दा तो था पर फटा नहीं था। पहले दोनों हाथ जमीन पर टिके फिर उचक कर टांग सीधी खड़ी हो गयी और उसके साथ एक हाथ में दबी एक वैशाखी भी तनकर खड़ी हो गयी जिसका गोल हत्था झट जिस्मके उस तरफ वाले हाथ के नीचे बगल में दब गया जिधर पैर नहीं था। पिण्डली गोरी थी, जो मैल और कालिख से चितकबरी लग रही थी।

वह एक पांव वाली देह सहसा उछलकर घूमी और अब मेरी ओर उसका अगला हिस्सा था, जिसमें उसके चेहरे के अलावा एक लम्बा पेट भी था। चूंकि कमीज हाफ पैंट के नीचे दबी और पेट में सटी हुई थी, इसलिए पेट की अतिरिक्त लम्बाई बरबस अपने विशिष्ट अस्तित्व का बोध कराती थी। देहने स्थिर होकर सिर को झटका और चेहरे पर बिखरे बालों को पीछे की ओर कर लिया। पर बाल चूंकि फिर भी काबू में नहीं आये, इसलिए दोनों हाथों ने उन्हें दबाकर आगे से पीछे की ओर जमाने की कोशिश की। लेकिन लेकिन कोशिश बेकार ही थी। बालोंमें तेल पड़े कई दिन हो गये थे और धूल और राखसे उनमें काफी रुखापन आ गया था। अतः वे लम्बे बाल बेतरतीब स्वच्छ रूपसे लटक गये या ऊपरकी ओर उठ गये। फिर चेहरा दाहिनेसे बायें और बायेंसे दाहिने घूमा और मूवी कैमरेके लेन्स-सी आंखें सामनेकी चीजोंको यों देखने लगीं, जैसे उन सबका जायजा ले रही हों।

यकीनन वह एक ऐसी देह थी, जिसमें एक नौजवान बनता हुआ फुर्तीला लड़का था। लड़का इसलिए कि वह लड़की तो हरगिज नहीं था,

क्योंकि उसके चेहरेपर मसे भिन रही थी। फिर भी उसका चेहरा इतना मासूम और दुर्बल था कि दूरसे केवल चेहरा देखकर उसे लड़की भी कहा जा सकता था। बैसाखीके सहारे चलकर वह एक ओर गया, फिर उधर कोई आदमी था, इसलिए दूसरी ओर प्लेटफार्मके किनारे गया, जिधर न कोई गाडी थी न दूर तक कोई आदमी ही दीखा। अब उसने हाफपैण्टके बटन खोले और पेशाब करने ही जा रहा था तब तक उसकी आँख ऊपर उठ गयी और उसने झट हाफपैण्टके बटन बन्द कर लिये। पेशाब करनेकी जगह उसने दोना हाथ जोड़कर सामनेकी दिशामें नमस्कार किया और श्रद्धासे अपना सिर झुका दिया चूँकि उस दिशामें कोई आदमी नहीं था और सामनेवाली दूसरी लाइनपर एक मालगाड़ी शान्त भावसे खड़ी थी, अत वह निश्चय ही उस सूर्यको नमस्कार कर रहा था, जो लाल लोहेकी एक बडी गेंदकी तरह मालगाडीके ऊपर उठ आया था और निर्लज्जतापूर्वक उसकी ओर देख रहा था। लड़केका संस्कार जाग गया था, नहीं, वह उगते सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब नहीं करेगा। लेकिन पेशाब तो उसे करना ही था। पर एक पूरी दिशाको सूर्यने घेर लिया था, उत्तर और दक्षिणमें बहुत दूर तक स्टेशनका पक्का चमचमाता प्लेटफार्म था और पश्चिमकी ओर हमारी गाडी खडी थी, जिसकी खिडकियोंसे कई जोडी आखें उसकी ओर देख रही थी।

\+ \+

वह थोडी देर ठिठका-सा खडा रहा कि अब क्या करे। पर कुछ सोचकर वह पूर्व दिशाकी ओर मुडा और प्लेटफार्मके उस स्थानपर पहुँचा, जहाँ ओवरब्रिजकी छाया थी। उसी छायामें प्लेटफार्मके किनारे खडे होकर उसने फिर हाफपैण्ट के बटन खोले और खडा-खडा ही लाइनके ऊपर पेशाब करने लगा। शायद उसने रात भर आलस्यवश अपनेको रोक रखा था, इसीसे बडी देर तक वह बैसाखीके सहारे खडा-खडा यह कार्य करता रहा। फिर बटन बन्द करते उसने दक्षिण दिशाकी ओर मुँह फेरा। पूरे प्लेटफार्मकी लम्बाई उसने नजरोंमें नाप डाली। सहसा उसका ध्यान ओवरब्रिजके नीचे अपने बोरों की ओर गया। एक कुत्ता उन बोरों को सूँघ रहा था और अपनी पीछे की एक टाँग उठ ही रहा था कि लड़के ने खटाक की आवाज से अपनी बैसाखी फर्श पर पटकी। कुत्ते ने झट टाँग नीचे कर ली और वहाँ से दुम दबा कर भागा।

लड़के ने अपने बोरों के पास जाकर बैशाखी जमीन पर रख दी और एक टांग पर बैठ गया। पहले उसने ऊपर वाले बोरे को तह किया और उसे बगल में दबा लिया, सिरहाने रखे एक फटे गमछे को गले में लपेटा और फिर नीचे बिछे बोरे को एक हांथ में लेकर खड़े होकर उसकी धूल झाड़ी। एक पांव पर वह इस तरह जमकर खड़ा था कि उसका सन्तुलन नहीं बिगड़ने पाया। फिर उसने बैठकर बैशाखी उठायी और खड़ा होकर एक साफ जगह की ओर चला। वहाँ बैशाखी रखकर नीचे वाले बोरे को पूरा फैला दिया। फिर उसपर तह किये हुए बोरे को रखकर दूसरे बोरे को लपेट दिया। इसके बाद गले में लिपटे गमछे को उतार कर उस। बोरों की गठरी को बीचोबीच बाँधा और फिर गठरी को पीठ पर करके गमछे के एक सिरे को दाहिने कन्धे के ऊपर से और दूसरे सिरे को बायें हाथ के नीचे से लाकर छाती के ऊपर दोनों सिरों को कस कर बाँध दिया। अब उसकी पूरी गृहस्थी उसकी पीठ पर आ गयी थी। उसने बैशाखी उठायी और खड़ा हो गया।

शायद वह सोच रहा था कि अब उसे कहीं जाना चाहिए। उसे लगा कि स्टेशन की वस्तुएं उसे अपनी ओर बुला रही हैं। पुकारें तो वह सबकी सुन रहा था, किन्तु यह निश्चय करने में उसे कुछ समय लगा कि वह किस वस्तु की ओर अपने को खिंच जाने दे। इस समूचे स्थिर जीवन के बीच सहसा उसे एक जंगम जीवन ने जोरों से अपनी ओर खींचा। यह वही ठठरीदार कुत्ता था जो पानी के बम्बे के नीचे बूंद-बूंद टपकते पानी से, अपना मुंह टेढ़ा करके, अपनी जीभ तर कर रहा था। लड़का वहां पहुंचकर कुछ देर तक वह तमाशा देखता रहा। अब उससे रहा नहीं गया और उसने आगे बढ़कर बम्बे खड़ा हो गया। कुत्ता पानी की गिरती धारा से अलग हटकर नाली में बहता पानी पीने लगा। जब वह तृप्त होकर उधर चला जिधर मेरी गाड़ी खड़ी थी, तो उस समय भी बैशाखी के सहारे खड़े लड़के की आँखें उसका पीछा करती रहीं, किन्तु उसने जब देखा कि कुत्ता एक डिब्बे की खिड़की से मुंह निकाल कर कुछ खाते हुए एक आदमी के आगे पूंछ हिलाता हुआ खड़ा हो गया, तो घृणा से भरकर उसने अपनी आंखें उधर से हटा लीं।

+ +

एक बार फिर उसकी दृष्टि पानी के बम्बे की ओर गयी। वह बम्बे के पास गया, बैशाखी एक ओर रख दी और गिरते हुए पानी की धारा में अपने हाथ-मुंह धोये, दाँत साफ किये, कुल्ला कर गमछे के एक छोर से अपना मुंह पोंछा और बैशाखी उठाकर एक ओर चल पड़ा। पर उसे जहाँ नहीं

जाना था, वहीं वह पहुंच गया। प्लेटफार्म संख्या पांच पर टिन शेड के नीचे भार तोलक-मशीन के सामने वह इस तरह खड़ा हो गया था, जैसे उससे कुछ बातें करना चाहता हो या ताल ठोंककर उससे लड़ने की तैयारी कर रहा हो। फिर वह बैसाखी के सहारे उचककर मशीन पर खड़ा हो गया। मशीन के ऊपरी भाग में बिजली का लट्टू जैसे उसे लाल आंखें दिखा रहा था। लड़के ने उसकी बिल्कुल परवाह नहीं की और अपने हाफ पैण्ट की जेब में हाथ डाला। उसमें से तीन सिक्के निकले, एक तीन पैसे वाला, एक दो पैसे वाला और एक एक पैसे वाला। उसने उन सिक्कों को फिर जेब में डाल दिया, उचककर मशीन के नीचे उतर आया और एक पैर पर झुककर अपनी बैसाखी उठा ली।

इस बार उसकी नजर शेड के बाहर ओवरब्रिज के खम्भे से सटा कर रखे बहुत से लोहे के भभोले आकार के पहियों की ओर गयी। दो दो पहिये लोहे की धुरी में कसे हुए एक साथ मिला कर खड़े किये गये थे, जैसे किसी सैनिक छावनी में जीप गाड़ियाँ और ट्रकें कतार में खड़ी रहती हैं। लड़का उधर ही बढ़ गया। पास जाकर उसने दो धुरियों के बीच अपनी बैसाखी लगा दी और उसे जरा तिरछा करके उस पर बल लगाया। आखिरी छोर वाला पहियों का जोड़ा फश र लुढ़क कर जरा अलग आ गया। लड़का मगन हो गया। उस। बैसाखी के हत्थे को पहियों के बीच में लगा कर जोर से ढकेला। पहिये तेजी से लुढ़कने लगे। लड़का बैसाखी बगल में दबाकर एक पाँव पर तेजी से उछलता हुआ उन लुढ़कते पहियों के पास पहुंच गया और फिर एक बार बैसाखी के हत्थे धुरी के बीच में धक्का दिया। पहिये इस बार तेजी से भागने लगे, लड़का और उत्साह के साथ उनके पीछे उछलता हुआ दौड़ने लगा।

आगे-आगे भागते पहिये और उनके पीछे उछलता दौड़ता हुआ वह लड़का और उनका पीछा करती हुई मेरी आँखें। किन्तु सहसा यह अनोखा दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। उस दौड़ और मेरी स्थिर गाड़ी के बीच प्लेटफार्म संख्या चार और पाँच के बीच वाले स्टेशन के कमरे आ गये थे और तभी सूर्य की किरणें पूरे प्लेटफार्म पर पतझर में पेड़ों के नीचे बिखरी पीली पत्तियों की तरह लोटने लगीं। स्टेशन अब पूरी तरह जाग गया था।

साहित्यमें जीवन-मूल्योंका स्वरूप

●

किसी वस्तुका मूल्य वह गुण है जिसे हम उस वस्तुमें उसी प्रकार देखने लगते हैं जैसे उस वस्तुके बाह्य स्थूल रूपको देखते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या गुण वस्तुतः उस वस्तुमें है या हम अपनी धारणा, वासना, संस्कार और आकाँक्षाके दबावसे उसे अनजाने ही वस्तुमें आरोपित करते हैं। गुण एक सूक्ष्म तत्व है जिसकी परीक्षा स्थूल ढंगसे नहीं की जा सकती। यदि किसी फूलमें गन्ध, रंग या मोहक आकृति है तो यह उसका स्थूल रूप है जिसका ऐन्द्रिय बोध हमें होता है। किन्तु ये तत्व हर हालतमें उस वस्तुके गुण ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह देखने वालेपर निर्भर करता है कि वह इन तत्वोंको उस वस्तुका गुण माने या दोष माने या गुण-दोष कुछ भी न माने। अतः गुण एक सापेक्ष्य संबन्ध-बोध है। फूलके रूप रंग, गंधमें स्निग्धता और स्वादको मूल्य तभी माना जा सकता है जब कि द्रष्टा उन्हें गुणके रूपमें स्वीकार करता हो अर्थात् वह उन विषयों से सीधा ऐन्द्रिय सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें भोग कर उनके सम्बन्ध में अपनी अच्छी धारणा बना चुका हो। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि मूल्य दो प्रकारका होता है— विधेयात्मक मूल्य (पाजिटीव वैल्यू) और निषेधात्मक मूल्य (निगेटिव वैल्यू) फलके गुणोंकी धारणा उसका विधेयात्मक मूल्य है किन्तु काँटेमें असुन्दरता और छेदकताकी धारणा उसका निषेधात्मक या अभावात्मक मूल्य है जो फूलके भावात्मक या विधेयात्मक मूल्यकी विवेचनात्मक भूमिका उपस्थित करता है। इस निबंधमें वस्तुके भावात्मक मूल्य के सम्बन्ध में ही किया जा विचार रहा है क्योंकि अभावात्मक मूल्य भावात्मक मूल्यके या अभावके तिरोभाव अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस तरह किसी वस्तुका गुण या मूल्य एक धारणा मात्र है जो उस वस्तुमें व्यक्ति द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवके आधारपर आरोपित किया जाता है अथवा वह ऐसी अनुभूति है जो किसी वस्तुमें आरोपित धारणात्मक मूल्यके फलस्वरूप अनुमान या कल्पनाके धरातलपर घटित होती है। सम्भव है कि एक ही वस्तुका ऐन्द्रिय अनुभव एक व्यक्तिमें अच्छी धारणा या अनुकूल वेदना उत्पन्न करे और दूसरेमें बुरी धारणा या प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करे और तीसरेमें अच्छी-बुरी कोई भी धारणा न उत्पन्न करे यानी निर्वेद या तटस्थताकी भावना उत्पन्न करे। ऐसी स्थितिमें वह वस्तु मूल्यवान केवल उसीके लिए मानी जायगी जिसमें उसके अनुकूल वेदना उत्पन्न होती है। इस तरह मूल्यका आधार दुहरा है, वह वस्तु और द्रष्टा, विषय और विषयी दोनोंमें निहित है। वस्तुमें अपना वास्तविक गुण हो या न हो पर यदि वह भ्रम या आरोपित धारणाके कारण ही सही, व्यक्तिमें अनुकूल वेदना-जन्य आनन्द उत्पन्न करती है तो वही गुण उसका मूल्य है। उदाहरण के लिए फूल और करेंसी नोटको लीजिए। फूलका मूल्य उसमें निहित उस रूप रस गंध आदिके कारण है जिसका प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बोध विषयीको होता है लेकिन करेन्सी नोट में ऐसा कोई गुण निहित नहीं है, फिर भी उसमें मूल्य है क्योंकि वह कृत्रिम रूप से उसमें आरोपित है। इसी भाँति मूल्यकी स्थिति विषयीमें भी है क्योंकि यदि उसकी इन्द्रियाँ कुंठित हैं या उसका राग-बोध मृत हो चुका है तो फूल, संगीत, सुगंध आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते। उसके लिए ऐसी सभी मूल्यवान सुन्दर वस्तुएं मूल्य रहित हैं। उसी तरह जो संसारसे विरक्त हो चुका है उसके लिए करेंसी नोट हो या सोनेका सिक्का, दोनों ही बेकार और मूल्यहीन हैं। विरक्त लोगोंको रुपये-पैसेमें मूल्य इसलिए नहीं दिखाई पड़ता कि वे उनमें आनन्द नहीं पाते। उनके लिए कोई और ही वस्तु आनन्दमयी होती है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि मूल्यका निर्णायक वह आनन्द है जो वस्तुतः विषयीमें ही निहित होता है, विषय तो केवल उसका उद्दीपक या बहाना मात्र होता है, यानी विषयी ही किसी वस्तुमें अपेक्षित मूल्यको आरोपित करता है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विषयीमें मूल्यकी धारणा होनेके कारण विषय बेकार है। वस्तुतः विषय न हो तो मूल्य भी नहीं होगा। विषय ही वह आधार है जिसमें मूल्यको स्थापित किया जाता है। इस तरह विषय और विषयी, वस्तु और द्रष्टाके सक्रिय सप्रवाय सम्बन्धसे ही मूल्यकी उत्पत्ति होती है। मूल्य द्रष्टा द्वारा भुक्त तत्व है और जब तक सक्रिय

सम्बन्ध द्वारा उस वस्तुका भोग नहीं होता और उस भोगके फलस्वरूप आनन्दका अनुभव नहीं होता तब तक मूल्यकी स्थिति ही नहीं होती। निष्कर्ष यह कि मूल्यके चार अवयव हैं—वस्तु, भोक्ता, भोग-क्रिया या संवेदना और आनन्द। इन चारों में से किसी एक भी अवयवके अभावमें मूल्यकी स्थापना नहीं हो सकती। यहीं एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल्य वैयक्तिक वस्तु है या सामाजिक। ऊपरके विवेचनसे वह वैयक्तिक प्रतीत होता है किन्तु गहराईमें जानेपर पता चलेगा कि व्यक्ति और समाज विरोधी इकाइयाँ नहीं हैं। इसके विपरीत उनमें अंग-अंगी भाव है। जो व्यक्ति-सत्य है वही समष्टि-सत्य भी है। व्यक्तिका अर्थ है वह सहज सामान्य व्यक्ति जो विक्षिप्त या कुण्ठाग्रस्त नहीं है। समाज ऐसे ही व्यक्तियोंका विवेकपूर्ण और सक्रिय सम्बन्धोंके आधारपर संघटित समुच्चय है। समाज भीड़ नहीं है। वह विवेकशील व्यक्तियोंका समझ-बूझ कर निर्मित संघटन है। ऐसी स्थितिमें व्यक्ति ही वह इकाई है जो समाजको समष्टिगत रूप देता है। अतः व्यक्तिकी संवेदना ही सामाजिक मूल्योंका निर्धारण करती है। व्यक्तिका भोग्य समाजका भोग्य है, व्यक्तिकी भोग क्रिया या संवेदना और उपलब्धियाँ समाज की ही हैं। अतः व्यक्ति द्वारा उपलब्ध आनन्द जिस मूल्यकी स्थापना करता है वही सामाजिक मूल्य बन जाता है।

इस प्रकार जीवन-मूल्य वह सामाजिक मान्यता है जिसका आधार व्यक्तिकी स्वानुभूतिसे उत्पन्न आनन्द है। किन्तु वैयक्तिक आनन्द किसी वस्तुको जो मूल्य प्रदान करता है वह उस व्यक्तिके लिए भले ही जीवन मूल्य हो, और व्यक्तियोंके लिए वह तब तक मूल्य नहीं होगा जब तक अन्य व्यक्ति भी उस वस्तुमें निहित आनन्दको स्वानुभूति द्वारा उपलब्ध नहीं कर लेते। जो सामाजिक मान्यता ऊपरसे थोपी हुई है और जिसमें आनन्द प्रदान करनेकी क्षमता नहीं है वह जीवन-मूल्य नहीं हो सकती; रूढ़ि, भय, विवशता या और कुछ भले ही हो। कारण यह है कि ऐसी बाह्यारोपित मान्यता समाजके व्यक्तियों द्वारा भोगी नहीं जाती और यदि विवशताके कारण भोगी भी जाती है तो उसका परिणाम अनुकूल वेदनाका आनन्द नहीं होता। इसके विपरीत उससे दुःखकी उत्पत्ति होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी सभी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताएँ तभी तक जीवन मूल्यके रूपमें मान्य होंगी जब जब उनमें व्यक्तियोंको आनन्द प्रदान करनेकी शक्ति न हो, भले ही

वह भ्रमपर आधारित, झूठी और समाज द्वारा वस्तुमें आरोपित ही क्यों न हो। आदिम मानव-समाजमें जादू-टोना एक ऐसा ही जीवन मूल्य था क्योंकि उसमें आस्था द्वारा आरोपित ऐसी शक्ति थी जो अवैज्ञानिक और भ्रमपर आधारित होते हुए भी समाजके व्यक्तियोंको आनन्द प्रदान करती थी। उसी तरह स्वर्ग, मुक्ति भौतिक ऐश्वर्य, असाधारण शारीरिक शक्ति, उच्च राजनीतिक पद आदिकी उपलब्धिको मध्यकालमें जीवन मूल्यकी मान्यता प्राप्त थी किन्तु आजके युगमें इनमेंसे कितनी ही बातें या तो रूढ़िमात्र रह गयी हैं या जीवन-मूल्यके रूपमें अमान्य हो चुकी हैं। आधुनिक युगने स्वतन्त्रता, समता, सामाजिक न्याय और मानवताको जीवन-मूल्यके पदपर प्रतिष्ठित किया है क्योंकि आधुनिक समाजके व्यक्तियोंने इनमें निहित आनन्दका अनुभव किया है या करना चाहते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन-मूल्य शाश्वत वस्तु नहीं है। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियोंके परिवर्तनके साथ युग-मानसके भितिजोंमें परिवर्तन घटित होता है और तब पूर्ववर्ती जीवन-मूल्योंका परीक्षण या पुनर्मूल्यांकन करके उनका संग्रह, त्याग या नवीनीकरण किया जाता है और साथ ही नवीन जीवनानुभूतियोंके सदर्भमें नवीन जीवन-मूल्योंकी स्थापना भी की जाती है। किन्तु संक्रांति कालमें पुराने जीवन-मूल्य विघटित होकर भी रूढ़ि-रूप में वर्तमान रहते हैं, यद्यपि उनमें आनन्द प्रदान करनेकी क्षमता नहीं रह जाती है। नवीन जीवन मूल्योंमें भी कई ऐसे होते हैं जो केवल कल्पनाके आधारपर संगठित होनेके कारण अमुक्त होते हैं किन्तु उनकी कल्पनाका आधार भी वास्तविक होता है। इससे वह कल्पना ही आनन्दात्मक होती है। उदाहरणके लिए स्वतन्त्रता लोकतन्त्र और साम्यवादको ले सकते हैं। इनकी स्थिति आज तक कल्पना ही है। स्वतन्त्र देशोंमें भी स्वतन्त्रता नहीं है। लोकतन्त्रात्मक देशोंमें भी समानता और बन्धुत्व नहीं है। साम्यवादी देशोंमें भी सरकारोंके कठोर शासन-यन्त्रमें व्यक्ति पिसा जा रहा है। फिर भी ये जीवन-मूल्य हैं, रूढ़ि या विवशता नहीं क्योंकि इन मूल्योंके वास्तविक स्वरूपको उपलब्ध करने और उसकी स्थापना द्वारा चरम आनन्द का अनुभव करनेकी उद्दाम लालसा मनुष्यके मनमें वर्तमान है। यह भविष्य की कल्पना ही वर्तमानमें आनन्दका कारण है। इसीलिए इन जीवन-मूल्योंकी उपलब्धिकी दिशामें मनुष्य बार-बार पराजित होता हुआ भी

आगे बढ़ता जा रहा है और उसके में प्रयत्न भी आनन्दमय ही है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि आजके जीवन-मूल्य मानवीय हैं जिन्हें मानव मूल्य कहना उपयुक्त होगा। आजके मानवकी आस्था किन्हीं अलौकिक तत्वों और व्यक्तिवादी सिद्धान्तोंमें नहीं रह गयी है। आज मानवका लक्ष्य मानव ही है। अतः पूर्ण मानवत्व और मानवके पूर्ण आनन्द की प्रतिष्ठा जिन मूल्योंके द्वारा होगी वे ही आजके जीवन-मूल्य या मानव-मूल्य हैं। किन्तु यह सोचना भूल है कि मनुष्य के सभी जीवन-मूल्य आध्यात्म, धर्म, राजनीति, अर्थ या नीतिशास्त्र के क्षेत्रों तक ही सीमित हैं। वस्तुतः जीवन का प्रसार जितना व्यापक है, उसके मूल्यों का क्षेत्र भी उतना ही व्यापक है। जीवन की दिशाओं की भाँति उसका उत्कर्षण और सम्बर्धन करने वाले मूल्यों के आयाम भी अनन्त हैं। यदि ऐसा न हो तो जीवन रेल की पटरी हो जाय और सभी व्यक्ति एकही मार्ग पर चलते रहें। प्रकृति के अनन्त रूपों में निहित सौन्दर्य भी एक जीवन मूल्य है, जगत की नाना वस्तुओं में निहित रहस्य मय अनुद्घाटित सत्य भी एक जीवन मूल्य है, व्यक्ति में अन्तर्निहित अरूप किन्तु अनन्त शक्ति का साक्षात्कार भी एक जीवन मूल्य है और कुरूप यथार्थ के नग्न सौंदर्य का प्रत्यक्ष दर्शन भी एक जीवन मूल्य है। ये वस्तुएँ जीवन-मूल्य इसलिए हैं कि इनमें जीवन को शक्तिमान और समृद्ध बना कर आनन्द प्राप्त करने की क्षमता है। भूमा में ही सुख है, अल्प में नहीं। जीवनानुभूतियों की समृद्धि पर ही आनन्द की बहुलता निर्भर करती है।

समस्त जीवनानुभूति-जन्य आनन्द तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है; (१) स्थूल ऐन्द्रिय भोग-जन्य सुख जो वाह्य जगत की भोग्यता और विषयों की भोग-शक्ति के सक्रिय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। (२) वस्तु में निहित सूक्ष्म सत्य के अनुरूप भोग से उत्पन्न मानसिक आनन्द जो स्थूल वस्तु-जगत के भीतर प्रवेश करने वाली चेतना की कार्य-कारण-ज्ञान सम्पन्न सविकल्पक समाधि दशा में उत्पन्न होती है। (३) आत्मोपलब्धि-जन्य आनन्द जो स्थूल वस्तु जगत से निरपेक्ष, चेतना की निर्विकल्प ज्ञान-दशा में स्वतः स्फुरित होता है अर्थात जिसको कार्यकारण सम्बन्ध-ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

इन तीनों के द्वारा ही मनुष्य पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। इनमें से प्रथम प्रकार का सुख चेतन प्राणी का स्थूल सुख है। पर स्थूल होते हुए भी वह असत्य और उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि स्थूल ऐन्द्रिक बोध ही समस्त

मानसिक और आध्यात्मिक आनन्द की आधारशिला है। इसका साधन वह समस्त नैसर्गिक और मानवीय सृष्टि है जिसमें इन्द्रियों को तुष्ट करने वाली योग्यता होती है। इसके अन्तर्गत सभी व्यवहारिक जीवन के कार्य आ जाते हैं। दूसरी कोटि अर्थात वस्तु के अरूप सत्य के ज्ञान के अन्तर्गत समस्त दर्शन और सैद्धान्तिक विज्ञान आते हैं जो सृष्टि के रहस्यमय किन्तु सत्य स्वरूप को उद्घाटित करके सत्य के अरूप भोग द्वारा मानसिक आनन्द की सृष्टि करते हैं। सत्य का यह साक्षात्कार वस्तु जगत से निरपेक्ष नहीं होता। इसके विपरीत यह वस्तु जगत मे घटित होने वाले कार्यकारण सम्बन्धों की शृंखला के सूक्ष्म अध्ययन विवेचन, विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है। इस तरह सविकल्प ज्ञान दशा में साक्षात्कृत सत्य के अरूप भोग से उत्पन्न आनन्द ऐन्द्रिय भोग-जन्य सुख से उच्चतर कोटि का, अधिक स्थायी और सक्षम होता है। तीसरे प्रकार का आत्मोपलब्धि जन्य आनन्द सौन्दर्य-बोधात्मक और आध्यात्मिक भूमिका में घटित होता है और यही उच्चतम कोटि का आनन्द है। यह असंलक्ष्यक्रम, अपरिमाप्य और स्वयप्रभ या प्राज्ञ होता है। वस्तुत यह आनन्द विषय सापेक्ष्य होते हुए भी कार्यकारण सम्बन्ध ज्ञान-निरपेक्ष्य, भौतिक प्रतीकों मे उद्भासित किन्तु विषयी मे निहित निजी *आन्तरिक आनन्द का उद्रेक होता है। काव्य, कला तथा आध्यात्मिक साधना* मे इसी आनन्द की उपलब्धि होती है।

काव्य का लक्ष्य इसी उच्चतम और अक्षय आनन्द की उपलब्धि है जो स्थूल ऐंद्रिय सुख और सूक्ष्म सत्य के अरूप भोग जन्य मानसिक आनन्द से भिन्न और उच्चतर कोटि का होता है। इस तरह यह आनन्द ही साहित्य का मूल्य है। साहित्य का यह मूल्य व्यापक जीवन-मूल्यों से किस प्रकार सम्बद्ध है, यही मुख्य विचारणीय प्रश्न है। साहित्य मे पूर्वोक्त भिन्न नाम रूपात्मक जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा आदि काल से अब तक होती चली आ रही है किन्तु इन जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा मात्र से ही साहित्य साहित्य नहीं बनता। यदि ऐसा होता तो ज्ञानराशि का समस्त संचित कोष यानी वाङ्मय साहित्य की ही संज्ञा पाता। जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा दृष्टि दान के लिए होती है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म, राजनीति, समाज नीति आदि में जीवन मूल्यों की वही प्रतिष्ठा होती है, क्योंकि उनका लक्ष्य समाज को दृष्टि देना होता है। लेकिन साहित्य दृष्टि ही नहीं, अन्तर्दृष्टि भी देता है। वस्तुत साहित्य और कला का जन्म ही अन्तर्दृष्टि (विजन) से होता है। इस अन्तर्दृष्टि द्वारा ही कवि कलाकार कलासृजन करके आत्मोपलब्धि करते हैं

और रसज्ञ कलास्वादन करके । इस तरह काव्य-कला के क्षेत्र में अन्तर्दृष्टि से आत्मोपलब्धि और आत्मोपलब्धि से आनन्दोपलब्धि होती है । इस कारण साहित्य और कला में वे ही जीवन मूल्य गृहीत होते हैं जिन्हें अन्तर्दृष्टि स्वयं उपलब्ध या पुनरुपलब्ध करती है । बाह्य दृष्टि यानी शिक्षा, पाँडित्य धार्मिक या राजनीतिक दबाव, फैशन, यश-लिप्सा, प्रचार आदि तो साहित्य के लिए विजातीय वस्तुएँ हैं । जिस साहित्य में बाह्य दृष्टि द्वारा आरोपित सत्यों की ही स्थापना होती है वह जीवन-मूल्यों से च्युत होते हुए भी मूल्यवान साहित्य नहीं हो सकता ।

जीवन-मूल्यों से च्युत होने पर भी साहित्य मूल्यवान न हो, यह कुछ बेतुकी सी बात लगती है । किन्तु पहले कहा जा चुका है कि वस्तु के वे ही गुण मूल्य हो सकते हैं जो भोगे जा कर आनन्द प्रदान करते हैं । यदि कोई साहित्यकार किसी जीवन-सत्य का स्वयं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भोक्ता नहीं है तो औरों द्वारा निर्दिष्ट, उपदिष्ट या प्रचारित वह जीवन सत्य और किसी के लिए भले ही जीवन मूल्य हो उस रचनाकार के लिए नहीं है । अभुक्त जीवन-मूल्यों की उद्धरणी साहित्य का आभास भले ही हो, साहित्य नहीं है ।

यहाँ साहित्य की रचना-प्रक्रिया का प्रश्न स्वभावतः उपस्थित हो जाता है । साहित्य की रचना में रचनाकार का दायित्व दुहरा होता है । एक ओर तो उसकी रचना के उपकरण उसके चेतन मन द्वारा प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्ष अनुभूत होते है और दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति उस अचेतन या अर्धचेतन मन का आकुल स्फोट होती है जिसे प्रेरणा कहा जाता है । यह स्फोट या प्रेरणा ही वह अन्तर्दृष्टि है जो चेतन मन के अधिकार क्षेत्र के बाहर की वस्तु है । वस्तुतः मूल स्रष्टा वह अर्धचेतन कलाकार मन ही है जो अचेतन मन द्वारा अनुभूत सत्यों को रचना-सामग्री के रूप में संयोजित करता है । अतः कोई भी जीवन-सत्य साहित्य में तभी अभिव्यक्त हो सकता है जब रचना के क्षणों में उसका स्वतः स्फोट अनिवार्य हो जाय और यह तभी सम्भव है जब रचनाकार को उस सत्य ने गहराई तक स्पर्श किया हो । उस उपलब्ध सत्य की आनन्दमयी वेदना को रचनाकार इस सीमा तक झेलता है कि रचना में उसकी अभिव्यक्ति रचनाकार की अनिवार्यता हो जाती है ।

इस तरह जीवन-मूल्यों को रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में रख कर देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रचनाकार पूर्वनिश्चित जीवन-मूल्यों को ज्यों का त्यों उठाकर अपने साहित्य में नहीं रख देता बल्कि उन्हें जीवन में भोग कर अपना बना लेता है और इस तरह या तो उनको अपने ढंग से रूपा-

मिल करके नवीन बना देता है या अपनी सम्पृक्ति के जादू से उनमें नवीन मोहकता उत्पन्न कर देता है। फलस्वरूप साहित्य में जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति उस तरह सीधी, तर्कपूर्ण और वक्तव्य प्रधान नहीं होती जैसी ज्ञान-विज्ञान और नीति-धर्म के क्षेत्र में होती है। साहित्य और कला में जीवन मूल्यों का रूपायन होता है। वे सूक्ष्म सिद्धान्त न रह कर अपने को अभिव्यक्त करते हैं। एक तरह से समस्त साहित्य प्रतीकात्मक होता है, जिसमें जीवन-मूल्य उपचेतन मन से रूप बदल कर चेतना लोक में आते हैं। यही साहित्य की कलात्मक उपलब्धि है क्योंकि सच्चा साहित्यकार आत्मानुभूत जीवन-सत्यों को भी यथावत नग्न रूप में संसार के सामने उपस्थित कर ही नहीं सकता। सत्य को सौन्दर्य में रूपायित करना उसकी रचना-प्रक्रिया की कुशलता नहीं, अनिवार्यता और विवशता है। जो साहित्यकार ऐसा नहीं करता अर्थात् जो अनुभूत, परानुभूत और परोपदिष्ट जीवन-मूल्यों की उद्धरणी उपस्थित करता या अपनी ही अनुभूतियों को सम्पृक्ति के ताप से गलाने और सौन्दर्य के साँचेमें ढालने के पूर्व ही उगल देता है, वह वास्तविक साहित्यकार नहीं, अनुकर्ता है, शव है। ऐसे साहित्य में न तो जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हो पाती है और न सौन्दर्य की ही। आत्मोपलब्धि या आनन्दोपलब्धि का तो प्रश्न ही अलग है।

इस विवेचन के बाद यह कहना पुनरुक्ति मात्र होगा कि साहित्यमें जीवन-मूल्योंका प्रचार या कथन नहीं होता, उनका बिम्बात्मक पुनर्निर्माण या जीवत और सुन्दर नवनिर्माण होता है। साहित्य न तो अनुकरण है, न अनुकरण का अनुकरण। वह सर्वथा नवीन रचना है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रचारात्मक, सुधारवादी, उपदेशात्मक और वक्तव्य प्रधान साहित्य, चाहे वह कबीर और तुलसी का हो चाहे द्विवेदी-युगीन कवियों और छायावादियों का, प्रेमचन्द का हो या गोर्की का, प्रगतिवादियों का हो या प्रयोगवादियों का, शुद्ध साहित्य या वास्तविक साहित्य नहीं है। तुलसी, प्रेमचन्द और गोर्की अपने प्रचारात्मक और सुधारवादी तत्वों के कारण महान् नहीं हैं बल्कि इसलिए महान् हैं कि उनके साहित्य में प्रचारात्मक और सुधारवादी तत्वों को निकाल देने के बाद भी ऐसा बहुत कुछ बच रहता है जिसमें उन्होंने स्वानुभूत जीवन-मूल्यों को रूपायित और सौन्दर्यविशिष्ट किया है। उनकी आत्मोपलब्धि और नव-निर्माण का दर्शन उनके साहित्य के इन्हीं अंशों में होता है।

पहले कहा जा चुका है कि साहित्यकार की आत्मोपलब्धि ही उसकी साहित्यिक उपलब्धि है। इसका अर्थ यह है कि आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया में ही वह पूर्व निर्मित जीवन-मूल्यों को पुन नये सिरे से उपलब्ध करता या उनका

पुनर्निर्माण करता है अथवा सर्वथा नवीन जीवन-मूल्यों की उपलब्धि और प्रतिष्ठा करता है और उनको मोहक चित्रों के सांचे में ढाल कर रूपायित करता है। उसका व्यक्तित्व सामान्य और विशिष्ट दोनों ही होता है। एक ओर तो वह व्यक्ति रूप में इकाई होने के नाते सामान्य है और दूसरी ओर वह अपनी गहरी संवेदना, तीव्र रागबोध और नवनिर्माण की अन्तर्निहित क्षमता के कारण सामान्य व्यक्तियों से विशिष्ट भी होता है। अतः सच्चा साहित्यकार भीड़ के व्यक्तियों जैसा आचरण नहीं करता, पूर्वस्थापित जीवन-मूल्यों और प्रचलित निर्दिष्ट शब्दावली का नारा नहीं लगाता, न ही वह अधकचरी सम्वेदनाओं और अभुक्त या अर्धमुक्त सत्य का 'असम्पृक्त अद्वितीय क्षण की अनुभूति' के नाम पर लेखा-जोखा उपस्थित करता है। और न प्रत्येक क्षण के स्थूल शारीरिक अनुभवों और मानसिक प्रतिक्रियाओं का भावुकतापूर्ण ढंग से टेम्परेचर चार्ट या टेपरेकर्डर की तरह रेकर्ड ही उपस्थित करता है। इसके विपरीत वह अपनी अन्तर्दृष्टि के साक्षात्कार से उपलब्ध ऐसे अनुभूत सत्यों को उद्घाटित करता है जो उसके निजी बिल्कुल अपने होते हैं। फिर भी उनमें इतनी क्षमता होती है कि वे उसके वैयक्तिक सत्य न रह कर समष्टि-सत्य बन जाते हैं। महान साहित्यकार और कलाकार प्रायः इसी कारण प्रारम्भ में अविख्यात और निरादृत होते हैं क्योंकि वे अनुकर्ता और सामान्य व्यक्तित्व वाले नहीं होते; नये मार्गों के निर्माता, नवीन जीवन-मूल्यों के प्रतिष्ठाता और विशिष्ट व्यक्तित्व वाले होते हैं। समाज को उन्हें समझने तथा उनकी उपलब्धियोंको आत्मसात करनेमें कुछ समय लगता है। किन्तु अन्तमें एक समय आता है जब उनके उपलब्ध जीवन-मूल्यों और अभिव्यक्ति-प्रणालियोंकी समाजमें प्रतिष्ठा हो जाती है। इस तरह एक व्यक्ति द्वारा उपलब्ध जीवन-मूल्य ही सामाजिक जीवन-मूल्य बन जाते हैं। मुख्य बात यह नहीं है कि कोई जीवन-मूल्य वैयक्तिक या सामाजिक है। मुख्य बात यह है कि बिलकुल वैयक्तिक होते हुए भी कोई नवोपलब्ध जीवन-मूल्य किसी सीमा तक समाजको प्रभावित करता है। यदि समाज उस वैयक्तिक जीवन-सत्यको अपने जीवनमें भी अनुभूत करके आत्मोपलब्ध करने लगता है तो वही सामाजिक जीवन-मूल्य बन जाता है। इस तरह शुद्ध साहित्यके क्षेत्रमें वैयक्तिकता और सामाजिकता का भेद नहीं रह जाता। वहाँ व्यक्ति ही समाजका प्रतीक होता है और समाज व्यक्तिका महत्तम रूप। इसलिए साहित्य व्यक्तिका ही आश्रयी होता है, समूहका नहीं। साहित्यकार न तो समाजका आश्रित और पिछलगा होता है न उसका विरोधी। इसके विपरीत अपनी वैयक्तिक

उपलब्धियोंके आधारपर ही वह सामाजिक जीवन-मूल्योंका निर्माता, अत समाजका नियामक होता है।

इस तरह साहित्यकार का सत्य ही समाज द्वारा उपलब्ध होने पर सामाजिक जीवन-मूल्य बन जाता है और पूर्व स्थापित सामाजिक जीवन मूल्य भी साहित्यकार द्वारा भुक्त और पुनरुपलब्ध होकर व्यक्ति सत्य बन जाते हैं। अत साहित्यमें जीवन-मूल्योंके नामपर वैयक्तिकता और सामाजिकताके बीच कृत्रिम दीवार खड़ी करना सकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है।

किन्तु इस प्रसगमें यह बात भी भूलनेकी नही है कि साहित्य महत्, उदात्त और सुन्दरका सश्लिष्ट रूप होता है। यदि उसमे यह सश्लेषण नही है तो यह वैयक्तिक होनेपर इतना तुच्छ हो जायगा कि उसकी ओर किसीका ध्यान ही नही जायगा और सामाजिक तथा पूर्वस्थापित जीवन मूल्योसे युक्त होनेपर भी इतना घिसा-पिटा होगा कि पाठककी सवेदना-शिराओंका स्पर्श ही नही करेगा। इन दोनो दशाओंमे वह अशक्त और मूल्यहीन होगा और साहित्यके उच्चपदसे च्युत माना जायगा। उदाहरणके लिए हम वैयक्तिकता की दृष्टिसे अज्ञेय और बच्चन तथा सामाजिक जीवन मूल्योंकी दृष्टिसे पन्त और निरालाको ले सकते हैं। अज्ञेय और बच्चन दोनोंने ही बड़ी ईमानदारीसे अपनी वैयक्तिक अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति की है। लेकिन अज्ञेयकी अनुभूतिया इतनी गहरी, प्रखर तापयुक्त, प्रकाशमान और उदात्त है कि प्रत्येक सवेदनशील व्यक्ति उन्हें सत्यके रूपमें भोगकर अपने भीतर ही उनकी उपलब्धि कर सकता है। इसके विपरीत बच्चनकी जीवनानुभूतियाँ हलका स्पर्श करके मादकताकी एक लहर भर उत्पन्न कर देती हैं क्योंकि उनमे उदात्त और महत् तत्वका अभाव है। उसी तरह निरालाकी 'भिक्षुक' और 'वह तोड़ती पत्थर' आदि कविताओ और पन्तकी ग्राम्या और युगवाणीकी कविताओंमे काव्य भूमि तो सामाजिक ही है और दोनों ही कवि मानवतावादी जीवन मूल्योंसे प्रेरित हैं, लेकिन निराला अपनी कविताओंमें अपने आलम्बनमे इस कदर डूब जाते है कि वे स्वय पत्थर तोड़नेवाली मजदूरनी, भिक्षुक तथा विधवाका दर्द भोगते प्रतीत होते हैं जिससे उन कविताओमे महत्ता और उदात्तता स्वय सन्निविष्ट हो जाती है। इसके विपरीत पन्तकी प्रगतिवादी कविताओंमे कोरी सहानुभूति या

दूरसे देखनेवाली दार्शनिक की आंखों की चिन्तन-मुद्रा के दर्शन होते हैं, ग्राम्य-जीवन और शोषितोंके दारिद्रयका दुःख उनका अपना भोगा हुआ नहीं है, न ही उस वर्गसे उनकी तादात्म्य ही हो सका है। इस कारण उनके सभी प्रगतिवादी जीवन-मूल्य बाह्यारोपित और कृत्रिम हैं जिससे उनके काव्यमें उदात्तता और महत्ता नहीं आ पायी है। यही बात उनकी अरविन्दवादी कविताओंपर भी लागू होती है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि साहित्यमें जीवन-मूल्य ऊपरसे आरोपित नहीं होते बल्कि वे साहित्यकारके अनुभूत सत्य होते हैं जो उसकी आत्मोपलब्धिकी प्रक्रियामें रूपायित होकर अपनी सुन्दरता, उदात्तता और महत्ताके कारण समाज द्वारा जीवन-मूल्योंके रूपमें स्वीकृत किये जाते हैं।